सिद्धों के दर्शन के लिए यहां आया हूँ। मैं यह निश्चय करके आया हूँ कि मेरा शरीर भले ही न रहे किन्तु मैं सिद्ध दर्शन किये बिना नहीं लौटूंगा।

इस पर ब्रह्मचारी जी बोले– सिद्ध लोग तो ऋषिकेश में भी बहुत रहते हैं, तुम्हें यहां आने की क्या आवश्यकता थी? अच्छा बताओ तुम्हारा स्वाध्याय क्या है? अब तक कितना मन्त्रजाप तुम कर चुके हो और उपनिषदों का कितना अध्ययन किया है? ज्योतिप्रकाश ने उत्तर दिया– महाराज! मैंने अब तक किसी प्रकार का स्वाध्याय नहीं किया है। ब्रह्मचारी जी बोले– तो तुम सिद्ध–दर्शन के अधिकारी नहीं हो। जाओ यहाँ से लौट जाओ।

ज्योतिप्रकाश आश्रम ने पुन: दीनभाव से निवेदन किया– महाराज! मैं यह निश्चय करके आया हूँ कि— ''कार्य वा साधयामि देहं वा पातयामि।'' अत: सिद्ध–दर्शन किये बिना मैं यहां से लौट नहीं सकता।

ब्रह्मचारी जी प्रसन्न होकर बोले– अच्छा तुम्हारा यदि यही निश्चय है तो एक वर्ष तक इस पेड़ के नीचे बैठकर अमुक मन्त्र का जाप करते रहो और अमुक जड़ी का सेवन करते रहो। इससे तुम्हें भूख–प्यास नहीं सतायेगी और तुम्हारा बल भी क्षीण नहीं होगा। एक वर्ष एक हम पुन: मिलेंगे और तुम्हारी योग्यता को देखकर तुम्हें सिद्ध–दर्शन करा देंगे। स्वामी ज्योतिप्रकाश आश्रम उन ब्रह्मचारी जी की आज्ञानुसार एक वर्ष लगातार मन्त्रजाप करते रहे। इस बीच उन्होंने घोर तप किया। ठीक एक वर्ष बाद उन्हें उसी स्थान पर उक्त ब्रह्मचारीजी मिले और बोले– अब तुम सिद्ध–दर्शन के अधिकारी हो गये। चलो मेरे साथ तुम्हें दर्शन करा दूँ। वे उन्हें अपने साथ ले गये और उन्हें बहुत लम्बे डील–डौल वाले एक योगी के दर्शन कराते हुए बोले– ये सिद्धयोगिराज मेरे गुरुदेव हैं। ये आजकल समाधि में हैं। सौ वर्ष के बाद ये एक दिन के लिए समाधि से उठते हैं।

स्वामी ज्योतिप्रकाश आश्रम ने पूछा– इनकी कितनी समाधियां आप देख चुके हैं? उन्होंने उत्तर दिया– सात। इसके बाद ब्रह्मचारी जी ने उन्हें आज्ञा दी– अब तुम यहां से लौट जाओ और उपनिषदों का अध्ययन करते रहो। अब तुम्हें ऋषिकेश में भी सिद्ध दर्शन होते रहेंगे। स्वामी ज्योतिप्रकाश आश्रम ने वहां से लौटकर बिजनौर में पंडित भगवत–दत्त श्रोत्रिय से उपनिषदों का अध्ययन किया और कुछ समय में ही यह प्रकाण्ड विद्वान बन गये। पंडित भगवतदत्त श्रोत्रिय ने स्वयं मुझे उपरोक्त घटना सुनाई और बोले– क्या बताऊँ ज्योतिप्रकाश आश्रम एक अलौकिक प्रतिभा वाले थे। जो ऋचा वे एक बार सुन लेते थे उन्हें तत्काल कण्ठस्थ हो जाती थी। इस प्रकार का स्वाध्यायशील व्यक्ति ही सिद्धकृपा का उत्तम अधिकारी होता है।

अनन्य भक्ति और सिद्धकृपा —

भजनं सेवनं भक्ति:। भजन करना सेवा करना, आत्मसमर्पण करना भक्ति कहलाती है। आम लोगों को प्राय: यह शंका रहा करती है कि उस पर इतनी कृपा क्यों और मुझ पर क्यों नहीं? मेरे साथ वैसी चमत्कारपूर्ण घटना क्यों नहीं होती जैसी फलाने के साथ घटित होती रहती है। ऐसे लोगों के लिए सीधा सा उत्तर है—

तुम लोग तो वहां हो ही नहीं जहां इस प्रकार के काम हुआ करते हैं। तुम लोग तो परीक्षा लेने वाले हो और सोचा करते हो कि ''यदि मेरा अमुक काम हो जाये तो मान जायेंगे कि योगी लोग शक्ति वाले हुआ करते हैं।''

तुम मत मानो। वे तो जो कुछ हैं, हैं हीं। तुम्हारे मानने या न मानने से उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। बजाय इस प्रकार की भावना रखने के ऐसे लोगों को अपने मन में यह विचार करना चाहिए कि— क्या उनका हृदय प्रेम से परिपूरित रहता है? क्या उनके अन्दर अनन्य निष्ठा है? क्या उनके चिन्तन में इष्टदेव के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता? यदि ऐसा है तो उन पर कृपायें अवश्य हुई होंगी, चमत्कार अवश्य हुए होंगे और होते रहेंगे।

वाणी का समर्पण तो हर व्यक्ति कर सकता है। तुम भी मुँह से भले ही कहते रहो महाराज! आप ही मेरे सब कुछ है, आपके सिवा मेरा कोई नहीं है किन्तु व्यवहार इसके विपरीत हो तो ऐसे प्रणिधान से कोई लाभ नहीं। यदि तुम्हारे अन्दर अनन्य निष्ठा है तो तुम्हारे कहे बिना ही वहां तक खबर पहुँच जायेगी और तुम्हारे आराध्यदेव का मन स्वयं ही जान जायेगा कि सचमुच इसका मेरे सिवा और कोई नहीं है। ऐसी स्थिति में उनका मन तड़प उठेगा कि इसका अमुक काम हो ही जाना चाहिए। गीता का वचन है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां
ये जना: पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां
योगक्षेमं वहाम्यहम्।।

इस श्लोक के अन्दर जगदात्मा श्रीकृष्ण ने यह घोषणा की है कि जो लोग अनन्य निष्ठा से मुझ परमेश्वर की उपासना करते हैं उनके योग–क्षेम का भार मैं स्वयं वहन करता हूँ। अर्थात् उन्हें जिस चीज की आवश्यकता हो वह उसे मैं देता हूँ और जो कुछ उसे प्राप्त हो रहा है उसकी रक्षा भी मैं स्वयं करता हूँ।

भक्तिभाव वाले लोगों ने जहां ईश्वर को आत्मसमर्पण किया और इस अवस्था में पहुँच गये—

'ना मैं देखूँ और को और न देखन देहुँ।'

तो इस अवस्था में यह सिद्धान्त लागू होता है—

यो मां पश्यति सर्वत्र
सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि
स च मे न प्रणश्यति।।

अर्थात् जो व्यक्ति मुझ परमात्मा को सब जगह देखता है और सब कुछ मुझ परमेश्वर के अन्दर व्याप्त देखता है उसके लिए मैं कभी नष्ट नहीं होता हूँ और मेरे लिए वह नष्ट नहीं होता।

ऐसी स्थिति जब साधक के अन्दर आ जाती है तो वह तुरीयावस्था में रहता है। इसी अवस्था को सम्प्रज्ञात योग की दूसरी अवस्था अर्थात् विचारानुगत समाधि कहा जाता है। इस स्थिति में प्रति का हृदय प्रेमास्पद के प्रेम में इस कदर परिपूरित रहता है कि एक प्राण और दो शरीर वाली बात हो जाती है। ऐसी अवस्था में ही कृपायें और चमत्कार हुआ करते हैं।

मुझे इस बात से सम्बन्धित कई घटनायें याद आ रही हैं। आनन्दकन्द श्री प्रभुजी की कृपा से आदरणीय भाई मुलखराज जी महाराज आठ महीने तक लगातार तुरीयावस्था में रहे। उनकी आँखें बन्द रहा करती थीं किन्तु अपने लौकिक व्यवहार में कोई त्रुटि नहीं होने देते थे। यहां तक कि भीड़ भरे बाजारों में आँखें मूँदे चला करते थे। किन्तु क्या मजाल कि कभी किसी प्रकार की दुर्घटना हो जाये। एक बार किसी भाई ने श्री प्रभुचरणाविन्दों में निवेदन किया— महाराज! यह बात समझ में नहीं आती कि भाई मुलख राज जी भीड़ भरे बाजार में आंखें बन्द किए हुए चलते हैं पर कभी कोई दुर्घटना नहीं होती, हम लोग बहुत संभल-संभल कर चारों ओर देखकर चलते हैं फिर भी कई बार चोट खा जाते हैं। इसका क्या कारण है? इस पर श्री प्रभुजी मुस्कराते हुए बोले भाई! उसको चलाने वाला ड्राइवर इतना होशियार है कि उसके मुकाबले का और कोई हो ही नहीं सकता। वही उसे भारी से भारी भीड़ में से सुरक्षित निकालकर ले जाता है।

कुछ दिन बाद श्री प्रभुजी भाई मुलखराज जी और गोपालानन्द जी को उसी अवस्था में कांगड़ा की किसी पहाड़ी पर ले गये। उनके साथ काफी संख्या में गृहस्थी लोग भी थे। लौटते समय कुछ लोग अधीरतापूर्वक बोले— महाराज जी शाम हो गई है। आपके अन्धे बच्चे कैसे चलेंगे? हम तो जैसे-तैसे चल जायेंगे। पर बुढ़ापे के कारण इनसे तो वैसे ही नहीं चला जाता, फिर आंखें बन्द और शाम का समय। बड़ी परेशानी वाली बात होगी।

श्री प्रभुजी बोले— तो इन्हें पहाड़ से नीचे धकेल दूँ? वे बोले- धकेल दीजिये पर इससे फायदा क्या होगा? बेचारे ख्वामुख्वाह मारे जायेंगे।

श्री प्रभुजी बोले- अच्छा तुम लोगों की यही इच्छा है तो इन्हें धकेल ही देता हूँ। यह कहकर श्री प्रभुजी ने उन दोनों को पहाड़ की चोटी पर खड़ा करके पहाड़ी से नीचे धकेल दिया। लोगों को यह आशंका थी कि वे मर जायेंगे पर यह देखकर उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि वे दोनों बड़ी तीव्र गति से आगे बढ़ते जा रहे हैं। श्री मुखलराज जी आकाश से नीचे उतरते हुए पक्षी की तरह उड़े जा रहे हैं और श्री गोपालानन्द जी मेढ़क की गति से उछलते हुए आगे बढ़ते जा रहे हैं। वे दोनों बहुत जल्दी अपने गन्तव्य स्थल पर पहुँच गये, जबकि वे डींगे मारने वाले नौ-जवान गृहस्थी लोग दो घण्टे बाद वहां पहुँचे। श्री प्रभुजी उन्हीं के साथ थे। आते ही बोले- क्यों, हमारे अन्धे बच्चे तुम लोगों से पहले पहुँच गये न?

वे लोग सकुचाते हुए बोले- हां महाराज जी! आप ठीक कहते हैं।

प्रतिस्पर्द्धा की भावना प्राय: सभी में रहा करती है। स्पर्द्धा या ईर्ष्या वे लोग हो करते हैं जो गुरु को गुरु नहीं समझते। उन लोगों के मनों में ही क्यों और कैसे वाले प्रश्न उठा करते हैं।

एक बार श्री प्रभुजी कहीं यात्रा पर जा रहे थे। उपरोक्त भावना वाले कुछ लोगों ने कहा— महाराज जी! श्री मुलखराज जो सदा आपके साथ ही रहा करते हैं। इस बार उन्हें यहीं छोड़ दीजिए। किसी और को चरणों में रहने का मौका दीजिए। किसी और को चरणों में रहने का मौका दीजिए। श्री प्रभुजी बोले— भाई! छोड़ूँ तो छोड़ूँ कैसे? इसकी हालत ही ऐसी है कि छोड़ते नहीं बनता। अच्छा, यदि तुम लोगों की यही भावना है तो हम इसे अपने साथ नहीं ले जायेंगे। यही कहकर वे कुछ सत्संगियों को साथ लेकर यात्रा पर चल पड़े। निश्चित समय पर वे लोग रेलवे स्टेशन पर पहुँचे और गाड़ी पर सवार हो गये। गाड़ी छूटने का समय बीत चुका था फिर भी वह चल नहीं रही थी। बीच में एक दो बार गाड़ी चलने भी लगी किन्तु वह थोड़ी दूर जाकर रुक जाती थी। इस पर श्री प्रभुजी गर्मी का बहाना करके दरवाजे पर आ गये और सीढ़ियों से पांव नीचे लटकाकर बैठ गये। यह देख सभी गुरु-भाई चिन्तित होकर बोले- महाराज जी! गाड़ी चलने वाली है। आप पांव ऊपर कर लीजिए और अन्द बैठ जाइये।

श्री प्रभुजी बोले- अन्दर बहुत गर्मी है। गाड़ी चलने का नाम नहीं लेती और हम लोग गर्मी से मरे जा रहे हैं। तुम लोग हमारी चिन्ता मत करो और अपने-अपने स्थानों पर बैठ जाओ। विवश होकर वे लोग चुप हो गये और आज्ञापालन के उद्देश्य से अपने स्थानों पर जा बैठे किन्तु मन ही मन बड़े चिन्तित हो रहे थे कि कहीं ऐसा न हो कि अचानक गाड़ी चल पड़े और श्री प्रभुजी को कुछ हो जाये।

इतने में एक आश्चर्यजनक घटना घटित होती है कि श्री मुलखराज जी महाराज दौड़े-दौड़े आते हैं और श्री प्रभुजी के लटकते हुए चरणारविन्दों से लिपट कर रोने लगते हैं। श्री प्रभुजी ने उन्हें पुचकारते हुए अपने साथ गाड़ी में बैठा लिया। उनके बैठने की देरी थी कि गाड़ी तीव्र गति से चल पड़ी। सत्संगी लोगों ने निवेदन किया— महाराज जी! इनका तो टिकिट नहीं बना हुआ है। अब क्या होगा? श्री प्रभुजी बोले क्या होगा, जब टी.टी. आयेगा तो इसे उतरवा देंगे।

कुछ समय बाद सचमुच ही टी.टी. आ गया और टिकिटों की जांच करने लगा। श्री प्रभुजी ने टिकिट दिखाते हुए कहा— शेष टिकिटें तो ये रहीं किन्तु हममें से यह व्यक्ति बिना टिकिट यात्रा कर रहा है, इसे नीचे उतार दो। टी.टी. महोदय ने श्री प्रभुजी की बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया और न श्री मुलखराजजी से टिकिट की मांग की। ज्योंही वह आगे बढ़ने लगा श्री प्रभुजी ने उसे टोकते हुए कहा— भाई! तुम इस व्यक्ति से टिकिट

क्यों नहीं मांगते हो? ऐसा मालूम पड़ता है कि तुम जानबूझ कर इससे बिना टिकिट यात्रा करा रहे हो। इस पर टी.टी. चिढ़ गया और बोला– हां! हां! मैं ही इसे बिना टिकिट ले जा रहा हूँ। नहीं मांगता इससे टिकिट। आप कौन होते हैं मुझे मुस्कराये और गम्भीर होकर बोले– अच्छा भाई! तुम्हारी मर्जी। हम कुछ नहीं कहते। इस घटना के माध्यम से श्री प्रभुजी ने भाई मुलखराज जी के प्रतिस्पर्द्धियों को यह जता दिया कि मुलखराज जी की जो स्थिति है उससे वे लोग कोसों पीछे हैं।

एक बार आनन्दकन्द श्री प्रभुजी अपने कुछ शिष्यों के साथ नैपाल में विराजमान थे। वहाँ एक वृद्ध हर क्षण उनकी सेवा में तत्पर रहा करता था। कुछ लोग उससे चिढ़ते थे– कि ''यह बूढ़ा हर बात में आगे रहता है, हमें कुछ भी सेवा नहीं करने देता।''

उन्होंने उसे श्री प्रभुजी के चरणाविन्दों से दूर करने के प्रयास किये किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। अन्त में एक बार कन्दमूल लाने का प्रश्न आया। उन्होंने सोचा कि फलाने पहाड़ में कन्दमूल तो बहुत हैं किन्तु वहाँ एक अघोरी रहता है वह किसी को कन्दमूल लेने नहीं देता। अत: इस बूढ़े को यह काम सोंपा जाये। यदि कन्दमूल लेकर आये तो ठीक है और यदि अघोरी इसे खा जाये तो और भी उत्तम रहेगा। हमारे रास्ते का कांटा हट जायेगा और हमें सेवा का मौका मिलने लग जायेगा। यह सोचकर उन्होंने श्री प्रभुजी से निवेदन करके उस वृद्ध सेवक को जंगल में भेज दिया।

वहाँ पहुँचकर उस वृद्ध ने ज्योंही कन्दमूल उखाड़ने की चेष्टा ही, अघोरी ने दूर से उसे देख लिया। उसने उस पर शक्तिपरीक्षण किया पर उसे कोई सफलता नहीं मिली। उसने मन में विचार किया कि ''आज तक कोई व्यक्ति मुझ से बचकर नहीं जा सका है किन्तु इसके आगे मेरी शक्ति निष्क्रिय हो गई है, निश्चित ही यह कोई सिद्ध पुरुष है।''

वह उसके पास जाकर बोला– मैं तुम्हें कुछ देना चाहता हूँ, बोलों क्या मांगते हो?

वृद्ध गम्भीर वाणी में बोला– मुझे कुछ नहीं चाहिए, तुम्हें यदि कुछ आवश्यकता हो तो मुझ से मांगी। अघोरी आश्चर्यचकित होकर उस वृद्ध के बारे में विचार करने लगा तो उसने देखा– कि श्री प्रभुजी का वरदहस्त उस वृद्ध के सिर पर है और वे मुस्कराते हुए कह रहे हैं—बेटा! तुम अघोरी को जो कुछ देना चाहते हो दे दो। तुम चाहो तो इसे अजर-अमर भी कर सकते हो। यह देख अघोरी हाथ जोड़कर उस वृद्ध से बोला– महाराज! मेरे पास से आज तक कोई खाली नहीं गया। आपके न चाहते हुए भी आपको वाक् सिद्धि का वरदान दे रहा हूँ। कृपया इसे स्वीकार कीजिए।

वह वृद्ध वरदान लेकर श्री प्रभुजी के पास लौट आया। जब सत्संगियों को पता चला कि यह वृद्ध कन्दमूल सहित सुरक्षित हो नहीं लौटा अपितु अघोरी से वरदान लेकर आया है तो उन्हें बड़ा दु:ख हुआ। वे उसे चिढ़ाने के लिए कहने लगे तुम तो वरदान लेकर क्या आये हो अपने लिए चौरासी लाख का चक्कर खरीद लाये हो। उन्होंने श्री प्रभु जी से भी निवेदन किया कि प्रभुजी यह तो अघोरी से वरदान लेकर अपने लिए मुसीबत खरीद लाया है। अब यह किसी को वरदान देगा और किसी को अभिशाप। बस इसी चक्कर में उलझा रहेगा। निश्चित ही इससे इसका पतन हो जायेगा।

श्री प्रभुजी मुस्कराये और बोले– अघोरी ने दिया और हमने ले लिया, उसने वरदान तो इसको दिया है किन्तु होगा वह जो हम चाहेंगे, हमारी इच्छा के बिना यह उस सिद्धि का प्रयोग नहीं कर सकेगा। उस वृद्ध की निष्काम भक्ति का श्री प्रभुजी का हृदय इतना आह्लादित हुआ कि उन्होंने उसी समय उसे समाधि दे दी और कहा– बेटा! अब तुम समाधि में लोन रहा करो।

ये घटनायें वही घटित हुआ करती हैं जहां ऐसे भक्त होते हैं जो अपने आराध्य को आत्मसमर्पण करके उन्हीं में अपने को खो देते हैं। ऐसी स्थिति में सर्वशक्तिमान इष्ट का मन सदा अपने भक्त के साथ रहा करता है और उसकी सभी शक्तियां भक्त के साथ रहा करती हैं। ऐसी स्थिति में उसका प्रत्येक संकल्प इष्टदेव को पूरा करना पड़ता है। इसका एक छोटा सा उदाहरण यहां दे देना भी मैं आवश्यक समझ रहा हूँ।

आदरणीय भाई मुलखराज जी जिन दिनों तुरीयावस्था में रहा करते थे तभी की घटना है। एक लकड़ी ने एक मधुर भजन सुनाया जो उन्हें बहुत ही अच्छा लगा। उन्होंने श्री प्रभुजी से निवेदन किया प्रभुजी! इस लड़की को चूड़ाला की सम्पत्ति दे दीजिये।

श्री प्रभुजी विस्मित होकर बोले– यह क्या कह रहे हो, पात्र तो एक तोले का है उसमें समुद्र कैसे उड़ेल दिया जाये?

श्री प्रभुजी ऐसा कह ही रहे थे कि इतने में हमारे दादा गुरु जी (नैपाल वाले) झट से आकाश में प्रकट हो गये और बोले– जैसी स्थिति में यह मांग रहा है उसे कैसे टालोगे? उसकी बात तुम्हें माननी ही पड़ेगी। इतना कहकर वे अदृश्य हो गये। तब श्री प्रभुजी ने तत्काल उस लड़की को चूड़ाला की सम्पत्ति से विभूषित कर दिया। तब से वह लड़की भगवान् विष्णु के चर्तुभुज स्वरूप में लय रहने लगी—

प्रेम हरी का रूप है सो हरि प्रेम स्वरूप।
एक ह्वै द्वै द्वै लखै ज्यों सूरज और धूप।।

प्रेमी और प्रेमास्पद का अभिन्न सम्बन्ध स्थापित हो जाना हो आत्मसमर्पण कहलाता है। ऐसी स्थिति में ही चत्कार एवं विशेष कृपायें हुआ करती हैं। इस स्थिति में भक्त की प्रार्थना ही नहीं अपितु जिद (शर्त) भी उसके आराध्य को मान्य होती है देखिए रामभक्त तुलसीदास जी की अनन्य निष्ठा–

मोर मुकुट कटि काछिनी भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै धनुषवाण हो हाथ।।

अपने भक्त की उपरोक्त जिद भगवान को पूरी करनी ही पड़ी। उन्होंने तत्काल अपना रूप परिवर्तित कर दिया। जैसे–

मुरली मुकुट दुराय के नाथ भये रघुनाथ।

अपने इष्टदेव के प्रति इस प्रकार की अनन्य निष्ठा रखना ही आत्मकल्याण का उच्चतम साधन है।

पुण्य–संग्रह और सिद्ध–कृपा

सिद्धों का कृपाभाजन बनने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य पुण्यों का संग्रह करता रहे। योगशिखोपनिषद् में कहा गया है—

पश्चात्पुण्येन लभते।
सिद्धेन सह संगतिम्।
ततः सिद्धस्य कृपया
योगी भवति नान्यथा।
ततो नश्यति संसारोऽयं
नान्यथा शिव भाषिताम्।।

इसका अभिप्राय है कि यदि मनुष्य यज्ञ करता है, दान करता है, तप करता है, ध्यान–धारणाये करता है या किसी प्रकार के भी पुण्यकृत्य करता है तो उसका भी फल यह होता है कि कालान्तर में पुण्यों के बढ़ जाने पर उस पर सिद्ध कृपा हो जाया करती है। जिससे वह स्वयं योगी बन जाता है और संसारचक्र से मुक्त हो जाता है।

अतः मनुष्य को अपना पुण्यों का खजाना बढ़ाते रहना चाहिए। पुण्य इतने बढ़ जायें कि मनुष्य उनके प्रति निष्काम हो जाये। पुण्य के प्रति निष्काम हो जाने का एक ही तरीका है जो कि ईशवावास्योपनिषद् के इस मन्त्र में बतलाया गया है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि
जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति
न कर्म लिप्यते नरे।।

अर्थात् मनुष्य कर्म करता चला जाये वह अपनी सौ वर्ष की जिन्दगी कर्म करते हुए ही व्यतीत करें। इस प्रकार कर्मरत रहता हुआ मनुष्य निष्काम बन जाता है और वह कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है।

जो मनुष्य कर्मरत नहीं रहता वह एक प्रकार से ईश्वर का अपराधी है। क्योंकि वह पड़ा–पड़ा तरह–तरह के दुश्चिन्तन करता रहता है, जिससे वायुमण्डल दूषित बनता है।

जो मनुष्य 'अहं ब्रह्मास्मि, प्रज्ञानं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म'' इस प्रकार के कुछ शब्दों को रट लेते हैं और यह सोचकर पड़े रहते हैं कि मुझे कुछ करने घरने की आवश्यकता नहीं है। वे महान अन्धकार में हैं। पड़े–पड़े तो सिवाय दुश्चिन्तन के और कुछ हो ही नहीं सकता। भगवान ने गीता के अन्दर अपने मुखारविन्द से स्पष्ट कहा है—

आरूरुक्षो मुनेर्योगं
कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढ़स्य तस्यैव
शमः कारण उच्यते।।

जो मनुष्य योगारूढ़ होना चाहता है वह प्राणायाम करता है, ध्यानाभ्यास करता है, तप करता है। इस प्रकार पुण्यमल कर्मों में रह होकर वह योगारूढ़ होता है और योगारूढ़ हो जाने पर शान्ति ही उसका कारण बन जाती है। अर्थात् वह शाश्वत शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

अतः मनुष्य को तप करना चाहिए, स्वाध्याय करना चाहिए। जो मनुष्य तपस्वी है, स्वाध्यायशील है, उस पर सिद्धकृपा अवश्य हुआ करती है।

इस सम्बन्ध में एक घटना मुझे याद आ रही है। वह इस प्रकार है—

एक लड़का था। उसका नाम ओमप्रकाश था और वह आगरा कालेज में पढ़ा करता था। पुण्य संस्कारवश उसके हृदय में भगवान कृष्ण के प्रति प्रेम पैदा हो गया। वह श्रीवृन्दावन चला गया और एक पेड़ के नीचे बैठकर अड़सठ दिन तक उपवास करता रहा। उस पर किसी सिद्ध की कृपा हो गई जिससे उसे गौलोक धाम आदि के दर्शन होने लग गये। दूर–दूर के व्यक्ति उसके पास जाया करते थे। वह उन्हें यमुना जी का जल उठाकर दे देता था। जिससे उनके कष्टों का निवारण हो जाता था।

इसी प्रकार की एक अन्य घटना है—

एक बार हम श्री वृन्दावन गये। वहां मोतीझील पर हमें एक नवयुवक लड़का मिला। उसकी आंखें ऊपर की ओर चढ़ी हुई थीं। हमने उसे उठाया और पूछा– भाई तुम्हारी क्या स्थिति है ?

वह बोला– महाराजजी यदि आपने मुझे न जगाया होता तो अच्छा था। खैर! आप मेरी स्थिति जानना चाहते हो तो सुनो– मुझे श्रीकृष्ण के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखाई देता। जिस ओर दृष्टि डालूँ श्री श्यामसुन्दर ही नजर आते हैं।

मैंने पूछा– क्या ये सामने के पेड़ तुम्हें दिखाई दे रहे हैं ?

वह बोला– नहीं ?

मैंने पुनः प्रश्न किया– क्या मैं दिखाई दे रहा हूँ ?

वह बोला– आप मुझसे बात कर रहे हैं इसलिए कुछ झलक–सी दिखाई दे रही है। किन्तु आपके अन्दर भी मुझे श्रीकृष्ण ही नजर आ रहे हैं ?

मैंने उससे पूछा– तुम्हारी यह स्थिति कैसे हुई ?

उसने उत्तर दिया— आज से कुछ समय पूर्व मैंने यहां एक रासलीला देखी। उसमें श्रीकृष्ण की आकृति मुझे बहुत ही मोहक लगी। मैंने उनका चित्र लेना चाहा किन्तु रासधारियों ने मना कर दिया। मैं निराश होकर एक शिवालय में चला गया और वहाँ शिव मन्त्र का जाप करता रहा। तीसरे दिन प्रातः मेरे साथ एक चमत्कारपूर्ण घटना हुई। मैं पूर्ण एकाग्रता के साथ जप कर रहा था कि अचानक ही शिवलिङ्ग के ऊपर से

एक माला उठी और मेरे गले में आ गिरी। इसके साथ ही मुझे यह आवाज सुनाई दी– ''मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। जाओ अब तुम्हें सर्वत्र श्रीकृष्ण के दर्शन होंगे। रासधारियों ने उस समय श्रीकृष्ण का चित्र लेने से मना कर दिया था किन्तु अब वे ही रासधारी तुम्हें चित्र भी दे देंगे?''

उसने आगे बताया कि मैं भगवान शिव की आज्ञापाकर उन्हें प्रणाम करके ज्योंही बाहर निकला तो दरवाजे के निकट ही मुझे वे रासधारी मिल गये। वे भगवान शिव के दर्शनार्थ आ रहे थे और बोले– ''प्यारे भैया! तुम कहां चले गये थे? हमने तुम्हारी बहुत खोज की। तुम श्रीकृष्ण का चित्र लेना चाहते अब ले लो।'' यह कहकर उन्होंने स्वयं चित्र दे दिया। उसे लेकर मैं यहां चला आया। तब से लेकर मुझे श्रीकृष्ण के अतिरिक्त और कुछ दिखलाई ही नहीं देता।

यह क्या था? अनादिसिद्ध भगवान शिव की कृपा, उनका शक्तिपात। जिसके फलस्वरूप उसे दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गई।

यह एक अटल सिद्धान्त की बात है कि मनुष्य का उद्धार सिद्धकृपा से ही होता है और वह कृपा भी हर व्यक्ति पर नहीं हुआ करती, क्योंकि सबके इतने पुण्य नहीं होते। पुण्यों का खजाना जमा करना भी हर व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है। क्योंकि एक व्यक्ति लोकहित के लिए कुआं खुदवाता है, बगीचा लगवाता है, मन्दिर बनवाता है, अस्पताल खुलवाता है या इसी प्रकार के अन्य पुण्यकार्यों को करता है और कहता है कि भाई! फल की तो मुझे कोई इच्छा नहीं है, मैंने करना था कर दिया। उसका इतना कहना भी पुण्य के फल को समाप्त करने के लिए काफी है। क्योंकि ''मैंने करना था कर दिया'' इस बात में भी फलासवित छिपी हुई है और अहंकार प्रकट होता है।

इसलिए मनुष्य को तप करना चाहिए, स्वाध्याय करना चाहिए और ये सभी कर्म नियमानुवर्तिता से करने चाहिए। जो मनुष्य नियम का पक्का है, वह कालान्तर में निष्काम बन जाता है। उसके अन्दर सतोगुण का पूर्ण विकास हो जाता है। सतोगुण का फल गीता में इस प्रकार बतलाया गया है–

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्
प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्वि–
वृद्धं सत्वमित्युत।।

जब साधक के रोम–रोम से प्रकाश की धारायें फूटती सी प्रतीत हों, अन्त:करण और इन्द्रियों में चेतनता और बोधशक्ति उत्पन्न होने लगे तथा हृदय आनन्द से परिपूरित हो तब समझना चाहिए कि उसके अन्दर सतोगुण बढ़ गया है।

सतोगुण बढ़ जाने पर साधक का हृदय प्रेम का पुतला बन जाता है। किसी प्रकार की लौकिक कामना उसके अन्दर नहीं रहती। उसकी यह स्थिति बन जाती है, कि जिसके लिए नानकदेव जी ने लिखा है–

नाम खुमारी नानका चढ़ी रहत दिन–रात।

ऐसीं स्थिति में प्रणिधान (आत्मसमर्पण) स्वयं ही हो जाता है। प्रणिधान का लक्षण है–

सर्व कमणां परमगुरावीश्वरे अर्पण प्रणिधान तत्फल संन्यासो वा।

अर्थात् अपने समस्त कर्मों को परम गुरु ईश्वर के अर्पण कर देना अथवा उनके फलका त्याग करना प्रणिधान कहलाता है।

प्रणिधान (आत्मसमर्पण) हो जाने पर इष्टदेव के हृदय में अपने उपासक के कल्याण के लिए जो भी संकल्प उठता है वही उसके उद्धार का कारण बन जाता है। अत: सिद्ध–कृपाभाजन बनने के लिए मनुष्य को पुण्यसंग्रह करते रहना चाहिए और वह स्थिति प्राप्त कर लेनी चाहिए कि—

सुनत न काहू की कही कहत न अपनी बात।
नारायण वा रूप में मगन रहत दिन रात।।

योग साधना में आहार शुद्धि का महत्त्व

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

मानव जीवन के उत्थान और उन्नयन में आहार शुद्धि का अपना विशेष महत्त्व है। बिना आहार शुद्धि के मन की शुद्धि नहीं हो सकती और बिना मन की शुद्धि के उसे शिव संकल्पों के पूरित नहीं किया जा सकता और जब मन शिव संकल्पों से शून्य रहेगा तब न तो अत्यन्त पुरुषार्थ–मोक्ष की संम्प्राप्ति होगी न समाधि लाभ मिल मोक्ष की संम्प्राप्ति होगी न समाधि लाभ मिल सकेगा और न शाश्वस्त शान्ति की ही उपलब्धि होगी अत: आहार शुद्धि का अपना विशेष महत्त्व है। योग–साधकों को तो अनिवार्य रूप से इस पर ध्यान देना है। शास्त्रों में इसीलिए बल देकर कहा गया है।

''आहार शुद्धौ सत्व शुद्धि
सत्व शुद्धौ ध्रुवास्मृति:।''

अर्थात्–आहार शुद्ध होने पर सतोगुण की शुद्धि और सतोगुण के शुद्ध होने पर निश्चित ही मनुष्य को समाधि प्राप्त होती है। इस लिये ध्रुवास्मृति के कायम रखने में अन्न या आहार विशेष सहायक वस्तु है। हमारी शास्त्रीय परिभाषा है:

'यथा अन्नं तथा मन:।'

अर्थात् मनुष्य जिस प्रकार का अन्न सेवन करता है उसी प्रकार का उसका मन बन जाया करता है। प्राय: देखने में आता है— आज इस कलियुग के समय में ऊँचे–ऊँचे पदाधिकारियों को अपने काम कराने के लिये लोग बड़ी–बड़ी डालियां पेश करते हैं और अच्छे–अच्छे भोज कराते हैं। यही कारण होता है कि वे लोग उनके आतिथ्य को पाकर प्रसन्न हो जाते हैं और उनके काम कर दिया करते हैं। महाभारत के उद्योग पर्व में नकुल सहदेव के मामा महाराजा शल्य का उपाख्यान मिलता है। महाराजा शल्य अपने सम्बन्ध के नाते पाण्डवों के मामा लगते थे और भारत युद्ध में उनकों पाण्डवों की ही मदद करनी चाहिये थी। महाराजा शल्य आये भी पाण्डवों की ही मदद करने को थे किन्तु रास्ते में ही धोखा देकर के दुर्योधन ने उनका इतना ऊँचा सत्कार किया कि वह कह उठे कि :–

इष्टोऽर्थो गृह्यतामिति।

अर्थात् हे दुर्योधन तुम अपना अभीप्सित वर माँगों। महाराज शल्य के ऐसा कहने पर दुर्योधन ने उनसे अपना सेनापति होने का वरदान माँगा और यों उनकी भारी सैन्य बल को अपनी ओर कर लिया। यह था 'यथा अन्नं तथा मन:' का प्रभाव। आज कल के घोर कलि–काल में भी इस प्रकार की अनेकानेक घटनायें घटित होती रहती हैं। यही कारण है कि हमारे सनातन धर्म में विवाहों में शादियों में या अन्यान्य उत्सवों में सहभोज की प्रथा बहुत अधिक मात्रा में प्रचिलित है। यह सहभोज एक दूसरे के मनो को इकट्ठा कर देता है। प्राय: सनातन धर्म के सिद्धान्तों के मानने वाले तपस्वियों का ब्राह्मणों का निमंत्रण अपनी अत्यन्त विनम्रता पूर्वक अपने घरों में किया करते हैं और यह चाहा भी करते हैं कि भोजनोपरान्त वह लोग उनको अपना अभीप्सित वरदान देकर जायें। और जैसी जिसकी सामर्थ्य होती है वे लोग वैसा आशीर्वाद देते भी हैं। जैसा मनुष्य अन्न सेवन करता है वैसे अन्न का प्रभाव उसके मन पर अवश्य तत्काल पड़ता है। इस विषय में मुझे आपबीती एक छोटी सी घटना याद आती है जिसका यहाँ उल्लेख करा देना आवश्यक व उचित समझता हूँ।

एक बार परम् करुणार्णव मेरे गुरुदेव योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज ऋषिकेश के श्री योग साधन आश्रम में विराजमान थे। उस समय उनके पास एक जेल का दरोगा भेंट निमित्त कुछ मिठाई लिये हुए उपस्थित हुआ। वह मिठाई श्री प्रभुजी ने उससे रखवा तो ली किन्तु बाँटने व खाने के लिये संकेत से सबको इन्कार कर दिया। किन्तु फिर भी किसी अपरिचित भाई ने वह मिठाई बाँट दी, और प्रसाद रूप समझ कर सभी साधकों ने खा ली। उसका परिणाम यह निकला कि सभी के मन कलुषित हो गये व तीन चार रोज के लिए वे अपने नैतिक अभ्यास से बिल्कुल खाली हो गये। जिस समय सभी बहन–भाइयों ने प्रार्थना करते हुए इसका कारण पूछा तो प्रभुजी ने उत्तर दिया कि इन मिठाई लाने वालों की दृष्टि गीध जैसी हुआ करती है। अत: इनकी कमाई का अन्न तुम सबको नहीं खाना चाहिए था। इसलिये सुश्रुत में भी ''आहार शुद्धौ सत्व शुद्धि, सत्व शुद्धौ ध्रुवास्मृति:'' कह कर मनुष्य के जीवन में आहार शुद्धि एक आवश्यकीय कर्त्तव्य है इसका निर्देश किया है जगदात्मा भगवान श्री कृष्णचन्द्र ने गीता के सत्रहवें अध्याय में तीन प्रकार के आहारों का वर्णन किया है और वे आहार सत्व प्रधान प्राणियों को, रज प्रधान प्राणियों ओ व तमोगुण प्रधान को अपनी–अपनी प्रकृति के अनुसार प्रिय होते हैं—

सतोगुण प्रधान मनुष्यों का आहार —

आयु: सत्त्वबलारोग्य,
सुख प्रीतिविवर्धना:।

रस्या: स्निग्धा: स्थिरा हृद्या,

आहारा: सात्त्वि प्रिया:।।

अर्थात् आयु वृद्धि करने वाला सत्त्व वृद्धि करने वाले, बल बढ़ाने वाले आरोग्यता देने वाले सुख और प्रेम को बढ़ाने वाले रसीले, चिकने, जिनकी शक्ति कायम रहने वाली है, जो हृदय को पुष्टि करने वाले हैं अर्थात् जो स्वभाव से ही रुचिकर हैं ऐसे आहार सात्त्वि कहलाते हैं और यह सतोगुण प्रधान व्यक्तियों को ही अच्छे लगते हैं। जिन आहारों का लक्षण जगदात्मा भगवान् श्री कृष्ण ने ऊपर के श्लोक में किया है, वे सारे के सारे गुण गौघृत, दूध, मक्खन, मलाई आदि पेय पदार्थ, गेहूँ, चना, जौ या रसीले सेव सत्तरा, अंजीर और मौसमी आदि फल घीया, बथुआ, तोरई, चौलाई, पालक, मैथी आदि पत्ती के साग और, पवित्र कन्द आदि में होते हैं, इनके सेवन करने से मन में सतोगुण का ही विकास होगा। बुद्धि पवित्र रहेगी और सतोगुण प्रधान व्यक्ति को स्वभावत: यही गुण प्यारे भी लगेगें।

रजोगुण प्रधान मनुष्यों का आहार —

कट्वम्ललवणात्युतीक्ष्ण रूक्ष विदाहिन:।

आहारा राजसष्येष्टा दुख शोकामय प्रदा:

अर्थात् कड़वे- करेले आदि, खट्टे-आम की खटाई आदि, ज्यादा नमक वाले अत्यन्त गरम जिनमें बहुत अधिक मिर्च पड़ी हो और रुखे व खुश्क तेज मिर्चों क पकोड़े आदि जो इसी प्रकार के शरीर में दरद दे वाले गर्मी पैदा करने वाले दु:ख और चिन्ता को पैदा करने वाले इस प्रकार के भोजन रजोगुण को बढ़ाने वाले होते हैं। जो रजोगुणा प्रधान व्यक्ति हैं उन्हें ये सब भोजन प्रिय होते हैं।

तमोगुण प्रधान मनुष्यों का आहार —

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं चयत्।

उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामस प्रियम्।।

अर्थात् रस रहित दुर्गन्ध युक्त, वासी उच्छिष्ट एवं रस रहित भोजन तमोगुण का बढ़ाने वाला है। और तामस व्यक्तियों को ही वह प्रिय होता है। जैसे पहिले दिन के बने हुए जिन पर से रात उतर चुकी है और गतरस हो जाते हैं ऐसे भोजन तम प्रधान होते हैं। जितने-जिस जिस स्वभाव के व्यक्ति संसार में रहते हैं उनको उसी प्रकार का खान-पान रहन-सहन प्रिय हुआ करता है। योगी के लिये सात्त्विक बन जाना बहुत आवश्यक हैं। जब तक उसके अन्दर सतोगुण की वृद्धि नहीं होती तब तक वह परम लक्ष्य को प्राप्त करने में असमर्थ होता है। इसके साथ-साथ यह एक बात का और ख्याल रखना आवश्यक है कि मन को शक्ति सब आहारों में परिवर्तन कर देती है। दूध घी फल कन्दूमूल साग सब्जी ये सब भोजन सात्त्विक हैं किन्तु कोई पाप की कमाई करने वाला ऐसे आहार खिलाता है, तो उनमें उसके मन का असर रहा करता है।

मनुष्य को चाहिए कि सदा भोजन सात्त्विक करे और वह नेक कमाई का हो तो सोने पर सुहागा जैसी बात होगी। भगवान ने कहा है।

युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।

युक्त स्वप्रावबोधस्य योगो भवति दु:खहा।।

अर्थात् जिसका आहार-विहार युक्त है। जिनका सोना व उठाना युक्त है उनके लिये योग दु:खों का नाश करने वाला है। इसलिये सात्त्विकी आहार के साथ-साथ युक्ताहार बिहार के नियम का पालन करना भी आवश्यक है।

प्रसन्नचेता योगी

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योगी स्वभावत: सदा प्रसन्नचेता होता है। अवसाद और अप्रसन्नता, दारिद्रय दु:ख और दैन्य उसकी जीवन रेखा को कभी छू भी नहीं पाते। आनन्द, ऐश्वर्य और प्रसन्नता की अखण्ड रश्मियां योगी के तेजोमय मुख मण्डल से सदैव निस्रत होकर उन सबको भी आनन्द और प्रसन्नसता का सहज अनुभव कराती रहती हैं जो उसके सम्पर्क में कुछ क्षणों के लिए भी आने का सुयोग प्राप्त कर पाते हैं। योगी के अखण्ड आनन्द और असीम आन्तरिक प्रसन्नता की उपलब्धि का स्रोत उस अपार आनंद और अमृत सागर से ही सम्बन्धित होता है जिसे जनसाधारण जगत में सच्चिदानन्द, परमतत्व, परमेश्वर, ईश्वर, ब्रह्म विश्व आत्मा आदि अनेक नामों से जानते या पुकारते हैं। यर्जुर्वेद में ऐसे ही महाभाग योगियों के सम्बन्ध में कहा है—

युञ्जते मनऽउत युञ्जतो धियो।
विप्रा विप्रस्य बृहतो वियश्चित:।।

वि होत्रा दधे वयुना विदेक।
उइन्मही देवस्य सवितु: परिष्टुति।।

यजु.अ. ११ सं. ४

अर्थात् जो नियम से युक्त आहार–विहार करने हारे जितेन्द्रिय आत्म पुरुष एकान्त देश में परमात्मा के साथ अपने आत्मा को युक्त करते हैं वे तत्वज्ञान को प्राप्त होकर नित्य ही आनन्द एवं सुख को भोगते हैं।

ब्रह्मानन्द में निमग्न रहने के लिए ही योगी की समूची योग साधनायें उसके जीवन में मूर्तमन्त हुआ करते हैं। सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में उसे सर्वदा ईश्वर का ऐश्वर्य सत्यं–शिवं–सुन्दरम् के रूप में बिखरा हुआ दिखाई देता है। 'जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है' के समान उसे सब कुछ ब्रह्म रूप ही दिखलाई पड़ता है। सृष्टि के हित और कल्याण की भावना से उसका हृदय सदा ओत–प्रोत रहा करता है। 'सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया' उसकी तप: साधना का मुख्य गीत होता है। योगी अपनी समाधि के आनन्द को केवल अपने कल्याण तक ही सीमित नहीं रखता किन्तु वह उसे लोक कल्याण के हित में यत्र–तत्र सर्वत्र बिखेर देना चाहता है। जहां भी वह रहता है, जहाँ भी जाता है अपने प्रभाव से वहाँ के समूचे वातावरण को सारे प्रदेश को पावन और पुण्यमय बना देता है। इसीलिए तो किसी कवि हृदय मनीषी ने अपने अनुभूत ज्ञान के आधार पर यह रचना कर डाली कि एक सिद्धयोगी जिस देश या प्रान्त में रहता है वह समूचा देश प्रान्त उसकी उपस्थित से परम–पावन बन जाया करता है।

यह भी ध्यान रखने की बात है कि योगी को प्रसन्नचेता की संज्ञा तभी प्राप्त होती है जब वह पूर्णरूपेण सिद्धयोगी के लक्षणों से मुक्त हो जाता है। भगवान श्रीकृष्ण ने श्री मद्भगवद्गीता में स्थितप्रज्ञ के जिन लक्षणों की चर्चा भी हैं वे सभी सुलक्षण एक प्रसन्नचेता, पूर्णता प्राप्त योगी के जीवन में ही चरितार्थ हो सकते हैं। भगवान कहते हैं कि वही मुनि है वही स्थितप्रज्ञ है, वही सिद्धयोगी है और वही समाधि के आनन्द कहा– जिसे दूसरे शब्दों में ब्रह्मानन्द भी कहा जा सकता है– अधिकारी होता है।

भगवान ने अर्जुन के एक प्रश्न के उत्तर में कहा है—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्ट: स्थितपज्ञस्तदोच्यते।।

दु:खेष्वनुद्विग्नमना: सुखेषु विगतस्पृह:।
वीतरागभयक्रोध: स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।

य: सर्वत्रा नभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाभुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

प्रसादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धि: पर्यवतिष्ठते।।

और अन्त में उन्होंने कहा है—

आपूर्यमाणचलप्रतिष्ठं
समुद्रमाप: प्रविशन्ति यद्वत।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।

जब तब कामनाओं का लेश भी रहता है योगी को न शान्ति प्राप्त होती है और न आनन्द। योगी सुख दु:ख, मान अपमान आदि सभी द्वन्द्वों से ऊपर उठकर समुद्र के समान आपूर्णमान अचल और प्रतिष्ठित हो जाता है— तभी वह सिद्धयोगी की कोटि में आता है और ऐसे सिद्धयोगी ही अपनी अहैतुकी करुणा से जन–जन का कल्याण किया करते हैं। मेरे गुरुवर महाप्रभु श्री रामलाल जी ऐसे ही परम सिद्ध महा योगियों की श्रेणी में आते हैं जिनके ऐश्वर्य और करुणा की कथायें यत्र–तत्र सर्वत्र बिखरी पड़ी हैं।

पञ्चविपर्य्यय

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योगदर्शन में जहाँ पर क्लिष्टा-क्लिष्ट वृत्तियों का वर्णन किया गया है वहाँ पर विपर्यय नाम की भी एक वृत्ति मानी गई है।

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति। ये चित्त की वृत्तियां हैं, जो योगी के लिए निरोधव्या हैं। सारा संसार वृत्ति संसार चक्र से ही चलता है। वृत्तियों से संस्कार और संस्कारों से वृत्तियों का जन्म बराबर होता रहता है। इसीलिए अहर्निशि वृत्ति संस्कार चक्र का आवर्तन होता रहता है। इन पाँच वृत्तियों में विपर्य्यय नाम की भी एक वृत्ति है। जिसको '**अतद्रूपप्रतिष्ठित**' मिथ्या ज्ञान कहा गया है। भगवान पतञ्जलिदेव ने कहा है–

विपर्य्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्।

ये सूत्र कहकर इस विपर्य्यय वृत्ति का लक्षण किया। इसका अर्थ है– 'मिथ्याज्ञान' अतद्रूपप्रतिष्ठित ज्ञान को विपर्य्यय वृत्ति माना गया है। ये वृत्ति प्रमाणों के अन्तर्गत नहीं मानी गयी क्योंकि प्रमाण के द्वारा अप्रमाण बाधित हो जाता है। जैसे किसी व्यक्ति को आँख की चकांचौंधी में कई एक चन्द्रमा दिखलाई देने लग जायें तो वे मिथ्या भासित होने वाले अनेक चन्द्रमा मनुष्य की दृष्टि स्थिर हो जाने पर नष्ट हो जाते हैं, एवं यथार्थ में एक ही चन्द्रमा के दर्शन होने लगते हैं। अनेक चन्द्रमाओं का दीखना केवल मात्र दृष्टि-दोष था। उसमें यथार्थता नहीं थी। यथार्थता तो वस्तुतः असलियत में कायम रहने वाली एक चन्द्रमा में ही थी। जिसके प्रकाशित होने पर झूठ-मूठ के अनेक चन्द्रमा समाप्त हो गये और यथार्थ में जो चन्द्रमा था वही शेष रह गया। इसी का नाम अतद्रूप प्रतिष्ठित मिथ्याज्ञान है। जिसको भगवान पतञ्जलिदेव ने विपर्य्यय वृत्ति के रूप में वर्णन किया है। यही विपर्य्यय ज्ञान पांच भागों में बटा रहने से अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेष आदि नामों से क्लेशों के रूप में बतलाया गया है। वस्तुतः अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेष आदि यथार्थ में नहीं हैं। किन्तु अतद्रूपप्रतिष्ठित होकर भासित होते हैं। इसीलिए योगाचार्या लोगों ने इनको पञ्चविपर्य्य नाम की संज्ञा दी है। देखिये योग-दर्शन के साधन पाद में पञ्चविपर्य्ययों का लक्षण एवं उस पर श्री व्यास देव जी की व्याख्या—

अविद्याऽस्मितारागद्वेषभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः।। क्लेशा इति। पञ्च विपर्य्यया इत्यर्थः, ते स्यन्दमानागुणाधिकार्ययन्ति, परिणाममवस्थापयन्ति, कार्यकारणस्रोत उन्नमयन्ति, परस्परा-नुग्रहतन्वीभूय कर्मविपाकं चाभिनिर्हरन्ति इति।।3।।

अर्थात् ये पञ्चविपर्य्यय कहलाते हैं और ये एक प्रकार से अतद्रूपप्रतिष्ठित मिथ्याज्ञान ही हैं। ये बढ़ते हुए गुणाधिकार को पुष्ट करते हैं, और परिणाम प्रवृत्ति में कारण बनते हैं। कार्य-कारण स्रोत को प्रकट करते हैं और एक-दूसरे का सहारा बनकर कर्म विपाक को पैदा करते हैं। इनमें से प्रथम विपर्य्यंय अविद्या को प्रसुप्त, तनु, विछिन्न और उदार नाम के क्लेशों की जननी कहा है। पढ़िये इसी विषय का स्पष्टीकरण श्री व्यास देव जी के शब्दों में—

अत्राविद्या क्षेत्रम् = प्रसवभूमिः, उत्तरेषाम् = अस्मिताऽऽदीनां चतुर्विधकल्पितानां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो-दाराणाम्, तत्र का प्रसुप्तिः? चेतसिशक्तिमात्रप्रतिष्ठानां बीजभावोपगमः, तस्य प्रबोध आलम्बने संमुखोभावः प्रसङ्ख्यानवती दग्धबीजस्य कुतः प्ररोह इति, अतः क्षीणक्लेशः कुशलश्चरमेदेह इत्युच्यते, तत्रैव सा दग्धबीजभावा पञ्चमी क्लेशावस्था नान्यत्रेति सतां क्लेशानां तदा बीज-सामर्थ्यं दग्धमिति विषयस्य सम्मुखीभावेऽपि सति न भवत्येषां प्रबोधइत्युक्ता प्रसुप्तिः दग्धबीजानामप्ररोहश्च, तनुत्वमुच्य ते— प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशा-स्तनवो भवन्ति, तथा विच्छिद्य-विच्छिद्य तेन तेनात्मना पुनः समुदाचरन्तीति विविच्छन्नाः, कथ? रागकाले क्रोधस्या दर्शनाद्, न हि रागकाले क्रोधः समुदां चरति रागश्च क्वचिद् दृश्यमानो न विषयान्तरे नास्ति, नैकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्तइत्यन्यासु स्त्रीषु विरक्त— इति किन्तु तत्र रागी लब्धवृत्तिरन्यत्र भविष्यद्वृत्तिरिति, स हि तदाप्रसुप्ततनुविच्छिन्नो भवति, विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः, सर्वएवैते क्लेशविषयत्वन्नातिक्रामन्ति, कस्तर्हि विच्छिन्नः प्रसुप्तस्तनु-रुदारो— वा क्लेश इति? उच्यते— सत्यमेवैतत्-किन्तु विशिष्टनामेवैतेषां विच्छिन्नादित्वं यथैव प्रतिपक्षभावनातो निवृत्तस्तथैव स्वव्यञ्जकाञ्जनेनाभिव्यक्त- इति सर्व एवामी क्लेशा अविद्याभेदाः, कस्मात्? सर्वेष्वविद्यैवाभिप्लवते यदविद्यया स्वत्वाकार्य्यते तदेवानुशेरते क्लेशाः, विपर्य्या सप्रत्ययकाल उपलभ्यन्ते, क्षीणमाणां चाविद्यामनु क्षीयन्त इति।।4।।

अर्थात् अविद्या इन सब प्रकार के क्लेशों की जन्मभूमि है। संस्कार कर्माशय में चार प्रकार से रहते हैं। उनमें से पहले संस्कार कहलाया करते हैं। जो कालान्तर में अर्थात् भोग काल में जागृत होकर वृक्ष रूप बन जाया करते हैं।

दूसरे तनु संस्कार कहलाते हैं जिनका प्रबल संस्कार के भोगकाल में अपने आप ही तन्वीकरण हो जाया करता है।

तीसरे विछिन्न संस्कार। कुछ संस्कार ऐसे होते हैं जो प्रबल संस्कार के उदय होने पर स्वत: ही कट जाया करते हैं। जैसे एक मनुष्य के मन में किसी के प्रति यदि राग है तो उस राग काल में क्रोध आदि का अभाव हो जाता है।

उदार संस्कार वह कहलाते हैं जो दृढ़ता के साथ अपने रूप में उपस्थित होते हैं। ये सब के सब अविद्या के अन्तर्गत माने जाते हैं। एवं अविद्या के झीण होने पर ये स्वत: ही झीण हो जाया करते हैं।

अविद्या स्वयं विपर्य्यय है। अविद्या का स्वरूप क्या है और उसको अतद्रूपप्रतिष्ठित मिथ्याज्ञान क्यों माना गया है यह सब इससे आगे के लेख में सविस्तार समझाने का प्रयत्न करेंगे।

— क्रमश:

भारत की सांस्कृतिक परम्परा का पावन-पर्व
गुरु पूर्णिमा

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

गुरु पूर्णिमा का पर्व, जिसे व्यास पूर्णिमा नाम से भी प्रसिद्धि प्राप्त है, भारत में गुरु–शिष्य के सम्बन्धों की सांस्कृतिक परम्परा का प्रतीकात्मक पावन–पर्व है। आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा को उषा बेला से प्रारम्भ होकर मध्याहोन्तर तक यह पर्व इस देश में सर्वत्र गुरु वनों के आश्रमों और आवास स्थलों पर बड़े ही हर्ष एवं उल्लास के साथ मनाया जाता है। शिष्यों के समूह अपने–अपने दीक्षा–गुरुओ की सेवा में उपस्थित होकर सविधि उनको अर्चना एवं पूजन आदि करके उनके चरण–कमलों में श्रद्धान्वित हृदय से जो कुछ भी बन पड़ता है– पत्रं पुष्पं फलं तोयम् के रूप में सादर समर्पित करते हुए अपने को कृतकृत्य अनुभव करते हैं। जब तक 'सिद्धयोग' का प्रस्तुत अंक पाठकों के हाथों में पहुँचेगा गुरुपूर्णिमा का यह पर्व सर्वत्र सम्पन्न हो चुका होगा। फिर भी इसके महत्व पर कुछ शब्द लिख देना हम इसलिए आवश्यक समझते हैं कि आज ज्ञान तथा शिक्षा के क्षेत्र में गुरु और शिष्यों के बीच की श्रृङ्खला की घड़ियाँ प्राय: जर्जरीभूत हो चुकी हैं। आध्यात्मिक और धार्मिक क्षेत्र में अवश्य ही किसी सीमा तक इस सम्बन्ध–श्रृङ्खला पर हमें अपनी प्राचीन वैदिक युग की वह स्वर्णीय आभा दृष्टि–गोचर होती है जिसके प्रकाश में ऋषि उपमन्यु शुकदेव, नारद, विवेकानंद, दयानंद, आदि अपने–अपने समय में अवतरित होकर, अपने सद्गुरुओं से मार्ग–दर्शन पाकर उस ज्ञान गंगा को और भी आगे ले जाने में समर्थ हुए जिसमें आज की पीढ़ी अवगाहन करके स्वयं की पावन और प्रबुद्ध करने का अवसर पा रही है। आज भी सद्ज्ञान के प्रसारक ऐसे अनेक आश्रम और उनके संचालक–सद्गुरुओं की देश में कमी नहीं है जो विज्ञापन और ख्याति से बहुत दूर रहकर अपने अनेकश: शिष्यों और अनुयायियों को कल्याण मार्ग की और ले जाने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहते हैं।

हमारे पूज्य गुरुदेव परम सिद्धेश्वर प्रभु श्रीरामलालजी द्वारा संस्थापित संवाई का श्री सिद्धगुफा योगाश्रम ऐसे ही आश्रमों में से एक प्रमुख आश्रम है जहाँ हजारों की संख्या में प्रतिवर्ष साधक अपने पारलौकिक और इह लौकिक कल्याण के लिए विधिवत् योग दीक्षा प्राप्त करने के कृत संकल्प होकर श्री गुरुशरण में आने का अवसर पाते रहते हैं। अपने इस आश्रम की शाखा सभाओं में भी सदस्यों की बहुत संख्या देश के विभिन्न भागों में अपना कार्य क्षेत्र बनाकर शान्तभाव से योग–प्रचार के कार्य में संलग्न है। देश में और भी ऐसे योगाश्रम हो सकते हैं जहाँ सद्गुरुओं के निर्देशन में योग प्रचार का कार्य समुचित रूपेण चल रहा है।

लेकिन इस वास्तविका को भी नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता कि आश्रम और सद्गुरुओं से इस क्षेत्र में भी विशेष कर योग के क्षेत्र में अनेक पाखण्डी और केवल कुछ आसनों की कला का प्रदर्शन करने वाले ऐसे योगाचार्यों का प्रवेश भी हो गया है जो योग विद्या के शनै: शनै बढ़ते हुए प्रचार की आड़ में अपना विशुद्ध आर्थिक स्वार्थ सिद्ध करने में ही दत्त होकर लगे रहते हैं। 'सिद्धयोग' के पिछले वर्षो के किसी अङ्क में हमने साधकों व पाठकों का ध्यान इस ओर प्रसंगवश दिलाया भी है कि कान में फूंक लगाकर चेला–चेली बनाने वाले तथा कथित गुरु नामधारी पाखण्डियों के कुचक्रों से वे सदा सावधान रहें। आज भी इस सावधानी की विशेष आवश्यकता है। मार्ग दर्शन हेतु साधकों को और यदि कोई सिद्ध सद्गुरु सुलभ न हो तो परमात्मा रूपी वह सद्गुरु तत्व हो सदा–सर्वत्र उनके हृदय–कमल में विराजमान रहता ही है जिसे योग दर्शन में भगवान पतञ्जलि देव ने—

'स पूर्वेषामपि गुर: कालेन अनवच्छेदात्' कहकर परिभाषित किया है।

अर्थात्– वह ईश्वर कालं से अखण्डित मर्यादित होने के कारण प्राचीन ऋषिमुनियों और सिद्ध–पुरुषों का भी गुरु है, गुरुओं का भी गुरु है।

सद्गुरु तत्व की वन्दना और अर्चना ही तो साधक अपने अपने सद्गुरुओं के रुप में करते हैं। वैदिक ज्ञान प्रभाकर की किरणें इसी परम सद्गुरु तत्व से भासमान होकर संसार के समस्त अज्ञान–अंधकार का नाश करती हैं। इन्हीं ज्ञान–रश्मियों के प्रचण्ड प्रकाश से मानव समुदाय अपने निर्धारित जीवन लक्ष्य को पाने में समर्थन होता है। और इस लक्ष्य को प्राप्त कराने के माध्यम बनते हैं सद्गुरुदेव। इसीलिए तो उनकी अपनी महता है और उसी महत्ता को संस्कृत के किसी मनीषी कवि ने यह कर प्रकट किया है—

गुरु र्ब्रह्मा, गुरु र्विष्णु, गुरुर्देवो महेश्वर:।
गुरु: साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नम:।।

मनीषी कवि की उपर्युक्त उक्ति अतिशयोक्ति नहीं है किन्तु तथ्य और सत्य है। भारतीय संस्कृति की यही तो विशेषता है कि जो यहाँ नर–तत्व को नारायण तत्व में या पुरुष को परम पुरुष को नारायण तत्व में या पुरुष को परम पुरुष में समाहित करने की क्षमता रखते हैं, जन–साधारण को मार्ग दर्शन दे सकते हैं उन्हें सम्मान देने हेतु भगवान जैसी नहीं किन्तु उससे भी कुछ ऊँची मान्यता प्रदान करदी जाती है। संत कबीर का निम्न कथन हमारे, कथन की पुष्टि करता है—

गुरु गोविंद दोऊ खड़े काके लागूँ पांय, बलिहारी गुरु आपकी गोविन्द दियौ मिलाय।

गुरु पूर्णिमा का पावन–पर्व शिष्यो की ऐसी ही भावनाओं के व्यक्तिकरण का पावन पर्व है। इसके पीछे गुरु–शिष्य के मधुर सम्बन्धों की जो पावन भावना है उसका अधिकाधिक प्रचार हो यही हमारा अभिमत है।

स्वाध्यायान्मा प्रमदः

(स्वाध्याय में प्रमाद मत करो)

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

वेदों, उपनिषदों, दर्शनों और स्मृतियों आदि में स्वाध्याय का विशेष महत्व दर्शाया गया है। ऋषि, मुनि और आप्तजनों से प्रणीत इन सभी ग्रन्थों ने इस सत्य को बड़ी स्पष्टता से स्वीकार किया है कि मानव जीवन के चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति में स्वाध्याय का प्रमुख स्थान है। आध्यात्मिक जीवन में ही नहीं वरन भौतिक उन्नति में भी स्वाध्याय की प्रवृत्ति सबसे अधिक सहायक होती है। इसीलिए तो हमारे पूर्वज ऋषियों और गुरुओं के आदि गुरु परमेश्वर ने व्यक्तियों से बने मानव समाज के कल्याण के लिए उसे चार आश्रमों में विभाजित करके प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम का मुख्य धर्म स्वाध्याय यानी सद्ग्रन्थों का पठन-पाठन नियत किया। इसके लिए यह भी नियम निर्धारित किया गया कि ब्रह्मचारी २४-२५ अथवा तीस वर्ष की आयु तक सद्गुरुओं के आश्रम में रहकर ही स्वाध्याय करें और अन्त में आध्यात्मिक तथा भौतिक ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त करके सद्गुरु आदेश ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश करेंगे। पूर्ण विद्या प्राप्त करा दिये जाने के बाद भी आश्रम के सद्गुरु जिन्हें आजकल की भाषा में गुरुकुल का उपकुलपति या कुलपति कहकर पुकारा जा सकता है— गुरुकुल छोड़कर जाने पर जो कल्याणप्रद उपदेश देते थे उसकी कुछ झलक तैत्तिरीयोपनिषद् के इन कतिपय वाक्यों में निहित है—

सत्यं वद। धर्मं चर। सत्यान्नप्रमिदतव्य। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्यायप्रियं धनमाहत्य। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।

अर्थात् तुम धर्म का पालन करना, सत्य ही बोलना और स्वाध्याय में प्रमाद कभी भी न करना तथा आचार्य को दक्षिण के रूप में वांछित धन लाकर देना और सत्य और धर्म से कभी न डिगना तथा वेदों के पढ़ने-पढ़ाने में कभी प्रमाद अथवा चूक न करना।

इस उपनिषद् वाक्य रचना में यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि सत्य और धर्म के धारण में प्रमाद न करने के साथ स्वाध्याय में प्रमाद न करने की बात विशेष रूप से दोबार दुहराई गई है। इसका अर्थ यही है कि स्वाध्याय का जीवन के उत्थान में बहुत बड़ा आश्रय रहता है।

उपनिषद् के ऋषि का स्वाध्याय से तात्पर्य वेद, वेदांङ्गों और आप्त-ऋषियों की रचनाओं के पठन-पाठन से ही है। ज्ञान की उपलब्धि सद्ग्रन्थों के पठन-पाठन से ही होती है और सद्ग्रन्थों का यह उपलब्ध ज्ञान ही मनुष्य की मुक्ति का साधन बनता है। स्वयं भगवान वेद का कथन है–

ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः।

अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती और यह ज्ञान प्राप्त होता है निरन्तर के स्वाध्याय से जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है।

योग-दर्शन में भी भगवान पतञ्जलिदेव ने समाधि लाभ हेतु योग साधकों के लिए स्वाध्याय पर विशेष बल दिया है। द्वितीय साधन पाद के प्रारम्भ में ही क्रियायोग की परिभाषा में उन्होंने—

तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः।

सूत्र की रचना करके स्वाध्याय को तप और ईश्वर प्रणिधान की समानता में ही ला खड़ा किया है। भगवान व्यास देव जी ने इसी सूत्र की व्याख्या में स्वाध्याय के अर्थ में प्रणव आदि का पावन जप' करते हुए मोक्ष आदि के मार्ग-दर्शक शास्त्रों का अध्ययन भी स्वाध्याय बतलाया है यथा—

स्वाध्याय प्रणवादि पवित्राणां न यो मोक्ष शास्त्राध्ययनं वा।

श्री व्यास जी ने यहाँ यह भी स्पष्ट किया है कि मन को एकाग्र करने में प्रवण जप और शास्त्रों का स्वाध्याध्याय बड़ा सहायक रहता है। इसी साधन पाद के ३२ वें सूत्र में भी जहां नियमों का उल्लेख किया गया है वहां स्वाध्याय को भी आवश्यक रूप से शामिल कर लिया गया है। यथा–

शौच सन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः।

यानी शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान, नियम कहलाते हैं।

इसी दूसरे पाद के ४४ वें सूत्र में तो और भी स्पष्टता से स्वाध्याय से अलभ्य लाभ के रूप में साधक को देवों ऋषि-मुनि और सिद्ध पुरुषों का सहयोग मिलता है ऐसा भगवान पतञ्जलि ने स्पष्टता से उल्लेख किया है। यह सूत्र इस प्रकार है—

स्वाध्यात् इष्ट देवता सम्प्रयोगः।

व्यास भाष्य के अनुसार सूत्र का अर्थ है- देवता, ऋषि और सिद्ध स्वाध्यायशील के दर्शन को जाते हैं और इसके कार्य में प्रवृत्त होते हैं।

उपर्युक्त सभी सूत्र इस सत्य के द्योतक हैं कि ष्वाध्याय के महत्व को योगदर्शनकार ने समाधि लाभ के प्रयोजन के लिए योग-दर्शन में प्रमुख स्थान दिया है तथा योगदर्शन के सूत्रों की व्याख्या करने वाले विद्वानों ने भी योगियो और योगमार्ग के साधकों को परामर्श दिया है कि वे स्वाध्याय की प्रवृत्ति को सतत् बनाये रखें और इस दिशा में कभी भी उपेक्षा या प्रमाद-वृत्ति को न अपनायें। ब्रह्मचर्याश्रम में ही नहीं किन्तु गृहस्थ,

वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में पहुँच कर भी स्वाध्याय की प्रवृत्ति तब तक कल्याणकारी ही रहती है जब तक कि वे पूर्ण सिद्धि नहीं प्राप्त कर लेते।

आनन्दकन्द भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने भी श्री मद्भगवद्गीता में स्वाध्याय की गणना दैवी सम्पदा में की है। यथा–

अभयं सत्व संशुद्धिः,

ज्ञानयोग व्यवस्थितिः।

दानं दमश्च यज्ञश्च,

स्वाध्यायस्तयआर्जव।

अर्थात् अभय, मनः शुद्धिः, ज्ञाननिष्ठा, दान, दम, तप और स्वाध्याय दैवी सम्पदा वाले व्यक्ति के लक्षण हैं–

इन सब उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव जीवन के उन्नयन में और समाधिसिद्धि में स्वाध्यायका अत्यधिक महत्व है इसलिए प्राचीन ऋषियों ने आध्यात्मिक जीवन जीने वालों को सतत् स्वाध्याय शील बने रहने का परामर्श दिया है।

यह भी यहाँ उल्लेखनीय है कि स्वाध्याय का अर्थ जहाँ सद्ग्रन्थों का पठन–पाठन है वहाँ इसका दूसरा अर्थ 'स्व–अध्याय यानी स्व का निरीक्षण करना भी है। आत्म–चिन्तन भी इसे कहा जा सकता है। योगमार्ग और आध्यात्मिक मार्ग के साधकों के लिए यह आत्म निरीक्षण भी समय–समय पर आवश्यक है कि वे साधना के पथ में कितना आगे बढ़े हैं अथवा कितना पीछे हटे हैं? जीवन और जीवन के व्यावहारिक पहलू में सत्वगुण अधिकाधिक समाहित हुआ है या नहीं? आसुरी वृत्तियों का स्थान दैवी वृत्तियाँ ले पाई है या नहीं? इत्यादि चिन्तन भी स्वाध्याय की परिभाषा में आता है। आत्म–चिन्तन से ही मनुष्य को वह आत्म–ज्ञान प्राप्त होता है, जिसकी परिसमाप्ति समाधि अथवा कैवल्य पद प्राप्ति में जाकर होती है। सद्गुरुओं ने इसीलिए–स्वाध्यायशील बने रहने के लिए कल्याणपथ के जिज्ञासुओं को सदैव प्रेरित किया है। स्वाध्याय चाहे शास्त्रों का हो या आत्मा का दोनों ही दृष्टियों से यह मानव जीवन के परिष्कार, परिमार्जन और उत्थान का मुख्य आधार बनता है। अतः साधकों को सदैव स्वाध्यायशील बने रहना चाहिए।

योगांगों का अनुष्ठान और क्लेश निवृत्ति

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

साधनों के अनुष्ठान का अपना महत्व होता है। बिना साधनों के कोई भी साधक लक्ष्य तक पहुँचने में समर्थ नहीं हो सकता। योगदर्शन में वर्णित पञ्चविध क्लेशों (अविद्याऽस्मिता राग द्वेष अभिनिर्वेश:) की निवृत्ति भी योगाङ्गों के अनुष्ठान से हो सकती है। इसे योगदर्शन में बहुविधि समझाने का उपक्रम किया गया है।

योगाङ्गों के अनुष्ठान करने का फल विवेकख्याति बतलाया है। विवेक ज्ञान उसी दशा में प्राप्त हो सकता है जबकि रज और तम के नाश हो जाने के बाद स्वत: ही सत्व शुद्धि हो जाय और ज्ञान चमक उठे यथा—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धि क्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्याति:।

अर्थात् योगाङ्गों के अनुष्ठान करने से अशुद्धि का नाश होता ही रहता है, तब तक जब तक कि मनुष्य को पूर्ण ज्ञान प्राप्त न हो जाय। जैसा कि इस सूत्र पर व्यास भाष्य है–

योगाङ्गानि अष्टवभिधाविष्यमाणानि तेषामनुष्ठानाद् पंच पर्वणो विपर्य्यस्याशुद्धिरूपस्य क्षय: नाश: तत्क्षये सम्यग् ज्ञानस्याभिव्यक्ति:, यथा यथा च साधनान्यनुष्ठीयन्ते तथा तथा तनुत्वमशुद्धिरापद्यते, यथा यथा च क्षीयन्ते तथा तथा क्षयक्रमानुरोधिनी ज्ञानस्यापि दीप्तिर्विवर्धते, सा खल्वेषा विवृद्धि: प्रकर्षमनुभवत्या विवेकख्याते: आगुण पुरुष स्वरूप विज्ञानादित्यर्थ:।

अर्थात् योग के जो आठ अङ्ग हैं उनको अभ्यास में लाने से पंचपर्वा अविद्या जनित अशुद्धि का नाश होता है, और अविद्या के नाश हो जाने पर सम्यक् ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है। जैसे-जैसे मनुष्य साधनों का अनुष्ठान करता है, वैसे ही वैसे अशुद्धि क्षीण होती चली जाती है और ज्यों-ज्यों अविद्या जनित अशुद्धि क्षीण होती है, त्यों-त्यों क्षय कर्मानुरोधिनी ज्ञानदीप्ति बढ़ती चली जाती है। जितना-जितना अशुद्धि का नाश होता है उतना ही उतना विवेकज्ञान बढ़ता ही रहता है। इस विवेक ज्ञान की वृद्धि गुणों से लेकर जब तक आत्मदर्शन नहीं होता तब तक होती रहती है तथा विवेकख्याति बढ़ती ही चली जाती है। पुरुष ज्ञान ही विवेक-ज्ञान की सीमा है।

हमने अपने पिछले लेखों में क्लेश-निवृत्यक यम-नियमादि का वर्णन भली प्रकार कर दिया है। यम-नियमों का पालन करना विवेक-ज्ञान का साधन है। यम-नियमों के बाद क्रमानुसार भगवान पतञ्जलि देव ने आसनों का संकेत किया है। आसनों के विषय में लोगों की धारणा है कि ये सब केवल शरीर शुद्धि के ही कारणभूत हैं, किन्तु बात ऐसी नहीं है।

शारीरिक आरोग्यता प्राप्त कराना तो आसनों का फल है ही किन्तु शरीर के साथ-साथ साधक के मानस स्वास्थ्य को भी इससे बहुत लाभ पहुँचता है। आसन करने वाले साधक का शरीर स्वस्थ, सुकोमल एवं लम्बे समय तक रहने वाला तो बन ही जाता है किन्तु उसके साथ-साथ ज्यों-ज्यों मनुष्य आसन बन्ध-मुद्राओं का अधिक अभ्यास करता है त्यों-त्यों उसके शरीर में वीर्य व्यापक होकर मानस शांति एवं आत्मतेज को बढ़ाने वाला होता है। आसनों में भी कुछ आसन इस प्रकार के हैं कि जिनका परिणाम शारीरिक स्वास्थ्य वृद्धि के साथ-साथ आत्मोत्कर्ष की ओर भी बहुत प्रगति के साथ बढ़ाना होता है। जैसे सिद्धासन, पद्मासन, पश्चिमोत्तान एवं शीर्षासन। जहाँ हमारे आचार्यों ने आसनों का वर्णन किया है वहाँ इनके फलादेश में पारमार्थिक लाभ का भी बहुत बड़ा परिचय दिया है। देखिये सिद्धासन का फल योगी आत्मराम ने 'हठयोग प्रदीपिका' में इस प्रकार लिखा है—

चतुरशीति पीठेषु
सिद्धमेव सदाभ्यसेत्।
द्वासप्तति सहस्राणां
नाड़ीनां मलशोधनम्।।
आत्मध्यायी मिताहारी
यावद् द्वादश वत्सरम्।
सदासिद्धासनाभ्यासात्
योगी निष्पत्तिमाप्नुयात् ।।

अर्थात् चौरासी आसनों में सिद्धासन के अभ्यास को ही प्रमुखत: करना चाहिए जो बहत्तर हजार नाड़ियों के मल को शोधन करता है। इस आसन का बराबर सेवन करते रहने से १२ वर्ष में मनुष्य सिद्धि को पा जाता है। इसी प्रकार से पद्मासन का फल देखिये–

पद्मासने स्थितो योगी
नाड़ीद्वारेण पूरितम्।

मारुतं धारयेद्यस्तु स

मुक्तो नात्र संशयः।।

अर्थात् पद्मासन का बैठकर जो योगी मारुत धारण करता है उसकी मुक्ति में कोई शंका ही नहीं है। इसी प्रकार से पश्चिमोत्तान का फल देखिये-

इति पश्चिमोत्तानमासनमाग्रयं

पवनं पश्चिम वाहिनं करोति।

उदयं जठरानलस्य कुर्यादुदरे

कार्श्यमारोग्यतां च पुंसाम्।।

अर्थात् पश्चिमोत्तान आसन प्राणवायु को पश्चिमी ही करता है। अर्थात् सुषुम्ना में पहुँचाता है और जठराग्नि को बढ़ाता है। उदर के मध्य में कृशता को करता है, और बल देकर शरीर को आरोग्य करता है। ऐसे ही शीर्षासन का फल देखिये—

मुद्रेयं साधयेन्नित्यं

जरामृत्युं च नाशयेत्।

स सिद्धः सर्वलोकेषु

प्रलयेऽपि न सीदति।।

शीर्षासन को विपरीतरकणी मुद्रा कहा गया है। शीर्षासन के अभ्यास में मनुष्य को अधः शिरोर्धपाद होना पड़ता है, इसलिए इस आसन को विपरीकरणी मुद्रा कहा गया है। जो मनुष्य विपरीतकरणी मुद्रा का अभ्यास करता है, वह बुढ़ापे और मृत्यु पर विजय पा जाता है तथा पूर्णरूपेण सिद्ध हो जाता है।

अतः हमारे योगासन केवल शारीरिक स्वास्थ्य के दाता ही नहीं प्रत्युत आत्मोत्कर्ष के भी दाता हैं, समस्त योगाङ्गों में आसनों का स्थान उत्कृष्ट होने से ये भी अनुष्ठान करने वाले मनुष्य को विवेकख्याति की ओर ले जाते हैं।

जहाँ पर योग के अन्यान्य अङ्गों का अभ्यास करने में अविद्याजनित अशुद्धि का नाश होता है, वहाँ पर प्राणयाम का विषय उत्तरोत्कृष्ट है। भगवान पतञ्जलि देव अपने योगदर्शन में तप के द्वारा अशुद्धि का नाश होने पर कायिक और ऐन्द्रिय शुद्धि होने का उत्कृष्टता के साथ वर्णन करते हैं। तप की उनकी व्याख्या है—

द्वन्दसहनं तपः

अर्थात् गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास के जोड़े को सहन करना तप कहलाता है। द्वन्द्व सहन का अर्थ इतना ही नहीं कि मनुष्य समय-समय पर भूख-प्यास पर कन्ट्रोल कर ले प्रत्युत प्राण पर नियन्त्रण करना भी इस परिभाषा में आता है। प्राण पर नियन्त्रण करने को सबसे बड़ा तप कहा है। प्राण की महिमा का वर्णन करते हुए हमारे आचार्यों ने बहुत कुछ कहा है, वे लिखते हैं—

प्राणोपिभगवानीशः प्राणो

विष्णुः पिमामहः।

प्राणेनधार्यते लोकः

सर्वं प्राणमय जगत्।।

अर्थात् प्राण ही भगवान शिव है और प्राण ही स्वयं ब्रह्मा है। प्राण ही सारे संसार को धारण करता है। सारा संसार प्राणमय है। इसलिए प्राण पर नियन्त्रण करना तपों से भी महान तप है एवं विवेकख्याति का मूल कारण है। अतः अविद्याजनित क्लेशों की निवृत्ति के लिए प्राणायाम भी एक अमूल्य साधन है। भगवान मनुदेव अपनी मनुस्मृति में लिखते हैं।

दह्यन्तेध्यायमानानां धातूनां

हि यथा मलाः।

तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः

प्राणस्य निग्रहात्।।

अर्थात् जिस प्रकार सोना, चांदी आदि धातुओं के तपाने से उनके मल जल जाया करते हैं, उसी प्रकार प्राणों पर नियन्त्रण करने से इन्द्रियों के मल जल जाते हैं।

अतः प्राणायाम भी क्लेश निवृत्ति का एक बहुत बड़ा साधन हैं, जिसका साँकेतिक परिचय देने का प्रयत्न किया है। आगामी लेखों में हम इसका विशद वर्णन करेंगे।

पुरुष विशेष ईश्वरः

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योग–विज्ञान के वेत्ता भगवान पतंजलि देव ने अपने अनुभवो की अभय निधि योग–सूत्रों के द्वारा प्रकट की है। योग सूत्र संसार में 'योग–दर्शन' के नाम से विख्यात हैं योग–दर्शन षट् दर्शनों में प्रमुख दर्शन है इसके अध्ययन करने वाले व्यक्ति स्वरूपानुभूति की ओर बढ़ जाते हैं। इस दर्शन में पुरुष विशेष को ही प्रधानता दी गई है। इसका लक्ष्य है देहस्थ आत्मा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाय, यानी अपनी अमर साधना के फलस्वरूप बौद्धेय धर्मों को छोड़कर कैवल्य लाभ करें। इस साधना के लिए योगदर्शन में श्री पतञ्जलि देव ने अभ्यास, वैराग्यादि का वर्णन करते हुए उपाय प्रत्यय पर भी बल दिया है। उपाय प्रत्यय का सहारा लेने वाले योगाभ्यासी साधक श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि आदि के क्रमानुसार अपने आपको साधना में लीन रखते हैं और अपने कठिन परिश्रम के फलानुसार अपने चरमलक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु यह कार्य विपुल वीर्यवान, उत्साही पुरुष ही कर पाते हैं। जो लोग दृढ़ता से साधना–क्रम में लगे रहते हैं, वे अवश्य ही सफल मनोरथ हो जाया करते हैं। प्राय: हर एक जिज्ञासु की भावना रहती है कि उसे सरल से सरलतम् अभ्यास बताया जाय, जिससे वह अपने उच्चतम ध्येय को सहज ही से प्राप्त कर लें। इसको ध्यान में रखते हुए श्री पतञ्जलि जी के सूत्र—

श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञापूरक इतरेषाम्।

को भली प्रकार समझकर और सरलतम साधना के उत्कट जिज्ञासु ने यकायक फिर प्रश्न कर दिया कि क्या समाधि प्राप्ति के लिए उपरोक्त वर्णित उपायों के अतिरिक्त कोई और सरलतम उपाय है? इसके उत्तर में एक बहुत ही सरलतम उपाय का दिग्दर्शन ऋषि ने किया—

ईश्वर प्रणिधानाद्वा।

अर्थात् ईश्वर को आत्म–समर्पण करने से भी समाधि लाभ हो सकता है। अर्थात् ईश्वर को आत्म–निवेदन कर देने से ईश्वर साधक के अभिमुख हो जाता है और वह साधक के शुभ–संकल्प को जानकर इदमस्याऽभिमतं अस्मि, अर्थात् यह जो प्यारी चीज चाह रहा है वह हो जाय। ईश्वर के प्रति इस प्रकार के संकल्पं द्वारा साधक को तत्काल समाधि लाभ हो जाया करता है। भगवान पतञ्जलि के इस प्रकार के आदेश को पाकर साधक को बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने पुन: पूछने की चाह प्रकट की। उसने पूछा कि जिन्होंने तीव्रतम साधना के द्वारा प्रकृति–पुरुष विवेक को ही अपना मुख्य लक्ष्य बनाया था पर अब समाधि प्राप्ति के भिन्न उपायों के साथ ईश्वर–प्रणिधान को भी सरल एवं उत्कृष्ट साधन बताया है। अत: साधक ने बड़े आश्चर्य से पूछा कि—

प्रधान पुरुष व्यतिरिक्तिः कोयं ईश्वरों नामेति।

अर्थात् प्रकृति पुरुष से भिन्न ईश्वर नाम की यह तीसरी वस्तु क्या है और उसकी परिभाषा क्या है? इसके उत्तर में भगवान पतञ्जलिदेव ने बतलाया–

क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः।

अर्थात् क्लेश–कर्म विपाकादिको से अपरामृष्ट पुरुष विशेष का नाम ईश्वर है। पुरुषत्वेन शब्द बहुसंख्यक पुरुषों का संकेत मिलता है। इसीलिए 'पुरुष विशेष: ईश्वर:' कह करके श्री पतञ्जलिदेव ने पुरुष विशेषत्वेन ईश्वर का प्रतिपादन किया। इसी प्रसंग में योगदर्शन में पाँच क्लेश बताये गये हैं। अच्छे–बुरे फलों से सम्बन्ध रखने वाली क्रिया को कर्म कहते हैं। कर्म–फलों का नाम ही विपाक है और विपाक का अनुशरण करने वाली वासना फल–भोग पर्यन्त कर्माशय में पड़ी रहती है, उसी का नाम आशय है। अर्थात् उसी का नाम कर्माशय है। यह क्लेश–कर्म विपाकादि मन में वर्तमान रहते हैं। चेतन पुरुष इनसे बिल्कुल भिन्न हैं। फिर भी क्योंकि वह बौद्धेय ज्ञान को ग्रहण करता है, इसलिए यह सब क्लेश–कर्म विपाकादि जीवात्मा में कहे जाते हैं। क्योंकि वह बुद्धि बोधात्मा होने के कारण इनके फलों को भोगता है। जैसे लड़ाई के मैदान में लड़ने वाले भोगता है। जैसे लड़ाई के मैदान में लड़ने वाले योद्धाओं की ही जीत और हार होती है। किन्तु वह जय और पराजय मानी जाती है। किन्तु वह जय और पराजय मानी जाती है उनके मालिक की। जिसके वेतन भोगी होकर वे लोग स्वामी की जय के लिए तन, मन न्यौछावर करके लड़ रहे हैं। इसी प्रकार से यद्यपि चित्त–शक्ति अपरिणामिनी है। उसमें किसी प्रकार का परिणाम नहीं आता। न ही उस पर किसी प्रकार का प्रभाव ही पड़ता है। किन्तु बुद्धि के द्वारा दर्शित विषयाकार होने के कारण क्लेश–कर्म विपाकादि आत्मा में मान लिए जाते हैं। किन्तु पुरुष विशेष ईश्वर इनके भोग से सदा सर्वदा ही अपरामृष्ट है। अत: क्लेश कर्म विपाकादि से अपरामृष्ट पुरुष विशेष का नाम ही ईश्वर है।

आत्मा क्लेश–कर्म से मुक्ति पा जाने के बाद इन सबसे अपरामृष्ट है। किन्तु फिर भी इस प्रकार के जितने भी मुक्त पुरुष हैं, वे सब सबके सब तीन बन्धनों को काट कर केवली भाव को प्राप्त हुए हैं। किन्तु ईश्वर को उन तीन बन्धनों का सम्बन्ध न कभी था न कभी आगे होगा। जिस प्रकार से मुक्त पुरुष मुक्ति से पहले बन्धन में थे, इस प्रकार ईश्वर कभी बन्धन में नहीं था, और जो आत्मा प्रकृतिलीन हैं, उनका चित्त साधिकार है, इसलिए उसके बाद में जब भी वह जन्म ग्रहण करेंगे तब उनका बन्धन होगा ही। इस प्रकार ईश्वर का नहीं हो सकता। ईश्वर न कभी बन्धन में था और न आगे कभी आयेगा। वह तो सदा ही मुक्त है। एवं सदा ही ईश्वर है। यहाँ पर एक प्रश्न की और कल्पना की गई कि ईश्वर का जो प्रकृष्ट सत्वज्ञानादि है अर्थात् जो सात्विक ज्ञान है उसका कारण क्या है? या उसका कारण कोई है ही नहीं। इसके उत्तर में बतलाया गया है कि उसका निमित्त कारण वेद है। फिर प्रश्न किया वेद का क्या निमित्त है? उत्तर में बतलाया कि उसका निमित्त कारण ईश्वर है—

एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्वे वर्तमानयोरनादिः सम्बन्धः।

अर्थात् शास्त्रोत्कर्ष और ईश्वर सत्व का परस्पर अनादि सम्बन्ध है यह सम्बन्ध है, यह सम्बन्ध अनवरत था और अनवरत ही रहेगा अतः—

एतस्मातद् भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति, तच्च तस्यैश्वर्य्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तं, न तावदैश्वर्य्यान्तरेण तदतिशय्यते, यदेवातिशायि स्यात् तदेव तत्स्यात्, तस्मात् यत्र काष्ठा प्राप्तिरैश्वर्य्यस्य स ईश्वरः, न च तत्समानमैश्वर्य्यमस्ति, कस्माद्? द्वेयास्तुल्ययोरेकस्मिन् युगपत्काभितेऽर्थे नवमिद मरतु पुराणमिद मरित्वत्येकस्य प्रसिद्धावितरस्य प्राकाम्य विद्यातादूनत्वं प्रसक्तं द्वेयाश्च तुल्ययोर्युगपत्कामितार्थ प्राप्तिर्नास्त्यर्थस्य विरुधात्वात्, तस्माद् यस्य साम्यातिशय विनिर्मुक्तमैश्वर्य्यं स ईश्वरः स च पुरुष विशेष इति।

वह सदा ही ईश्वर है और सदा ही मुक्त है। उसका ऐश्वर्य साम्यातिशय विनिर्मुक्त है। अर्थात् ईश्वर का ऐश्वर्य किसी दूसरे के ऐश्वर्य से दबाया नहीं जा सकता। इसलिए जिसका ऐश्वर्य सभी ऐश्वर्यों का अतिक्रमण करके उच्चतम् पहुँचा हुआ है, वही ईश्वर है। यानी क्लेश, कर्म विपाकादि से अपरामृष्ट आदि सत्ता ईश्वर की पुरुष विशेष है। उस पुरुष विशेष ईश्वर के स्मरण–चिन्तन से मनुष्य परमानुग्रह भाजन होकर अपने स्वरूप स्थिति को प्राप्त कर लिया करता है।

शक्ति के संरक्षण के उपाय

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

हमने समय समय पर 'सिद्धयोग' में प्रकाशित होने वाले अपने लेखों में 'सिद्धयोग और साधनयोग' से द्वारा प्राप्त होने वाली शक्ति का वर्णन किया है। योगिक-साधनाओं में शक्ति प्राप्त करने के प्रकार तो बहुत हैं किन्तु यह बात कोई-कोई बिरला अधिकारी ही सोच पाता है कि वह प्राप्त की हुई शक्ति को संभाल ले और वह उन नियमों पर आचरण करें जिनके पालन करने से शक्ति की रक्षा की जा सके है और उसके साथ-साथ उसका संवर्धन भी हो सके।

एक योगाभ्यास करने वाला योगी यदि अपने नियमों का पूरी तरह पालन करता है तो वह उसका अभ्यास ही उसका गुरु बन जाता है। तथा उत्तरोत्तर भूमिकाएँ उसके सामने प्रगट होती रहती हैं। योग-दर्शन के साधनपाद के प्रारम्भ में भगवान पतञ्जलिदेव ने क्रियायोग का जो उपदेश किया है। वह इस प्रकार है :-

तपः स्वाध्याय ईश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।।

अर्थात् तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये तीनों साधनायें क्रिया योग की हैं। इस सूत्र पर श्री व्यासदेव जी महाराज ने भाष्य की पंक्तियें इस प्रकार लिखी हैं :-

ना तपस्विनो योगः सिद्यति, अनादिकर्मक्लेश-वासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः सम्मेदमापद्यत इति तपस उपादानं तच्च चित्तप्रसादनम-बाधमानमनेनासेव्यमिति मन्यते, स्वाध्यायः=प्रणवादिपवित्राणां जपः मोक्षशास्त्राध्ययनं वा ईश्वरप्रणिधानं=सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फल-संन्यासो वा।

अर्थात् जो तपस्वी नहीं है उसे योग सिद्ध नहीं होता। उसका कारण है अनादि काल से कर्म, क्लेश, वासना से भरा चित्त अनेक प्रकार के विषय जाल को उपस्थित करता है इस प्रकार के विषय जाल को उपस्थित करता है इस प्रकार की अशुद्धि तप के बिना दूर नहीं की जा सकती। और वह तप जो है जिसमें चित्त पर कोई भार न पड़े और क्लेशित न हो अर्थात् चित्त जिस तप के करने में प्रसन्न रहे कोई बाधा उपस्थित न हो वही तप धारण करना चाहिये। प्रणवादि ईश्वर के पवित्र नामों का जप करना व मुक्तिदाता शास्त्रों का पाठ करना स्वाध्याय कहलाता है। परमगुरु ईश्वर को सर्वकर्मार्पण कर देना या उनके फलों का त्याग कर देना ईश्वर प्रणिधान कहलाता है। इस क्रिया योग की साधना परमार्थान्वेषी साधक के लिये बहुत ही आवश्यक है। जो साधक क्रियायोग के नियमों का पालन न करके अपनी साधना को बढ़ा लेना चाहता है। यह उसका मानस भ्रम है।

मैं आज के अपने इस लेख में तप, स्वाध्याय आदि के क्रम को सभी साधकों के हितार्थ स्पष्टीकरण के साथ समझा देना चाहता हूँ। जिसको अपनाकर प्रत्येक साधक पूर्णरूपेण अपना हित साधन कर सके।

गीता में भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने तप का तीन प्रकार से उल्लेख किया है जो सभी के लिये परमोपायदेय है।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं
शोचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च
शारीरं तप उच्यते।।

शारीरिक तप का वर्णन उपरोक्त शब्दों में अपने मुखारबिन्द से भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने किया है।

शारीरिक तपः- तपस्या करने वाले साधकों को चाहिए, शरीर को पीड़ा देने वाले कष्टप्रद धोर तपों को न करें। भगवान की जिस प्रकार की आज्ञा है। वही तप श्रेष्ठ एवं परम कल्याणकारी है। भगवान श्रीकृष्ण ने उपरोक्त श्लोक में शारीरिक तप का इस प्रकार वर्णन किया है।

देव, द्विज (अर्थात् ब्राह्मण) गुरु एवं बुद्धिमान लोगों का पूजन करना एवं बाह्याभ्यान्तर सभी प्रकार की शुद्धि रखना और इसके साथ-साथ विनम्र रहना, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना तथा अहिंसा धर्म का पूरा-पूरा पालन करना, ये ही परमोत्कृष्ट शारीरिक तप है। अपने इस लेख के प्रारम्भ में तप का लक्षण करते हुए "द्वन्द्व सहनं तपः" कहकर हमने तप की परिभाषा लिखी है। द्वन्द्व सहन का अर्थ है- सर्दी, गर्मी, भूख-प्यास के जोड़े को सहन करना। जो मनुष्य देव, द्विज, गुरु प्राज्ञादि का पूजन करता है वह अपने स्वार्थ को उनके स्वार्थ में निहित कर देता है। उसकी अपनी इच्छा की प्रधानता खत्म हो जाती है और उनकी इच्छा की प्रधानता सामने आ जाती है, वह अपनी खुदी को खोकर उन लोगों की इच्छा के अनुसार चलने की आदत डाल लेता है। यद्यपि उसका अपना अहं किसी की सेवा करने की आज्ञा नहीं देता, फिर भी देव, द्विज, गुरु, प्राज्ञादि के पूजन में साधक अपना आपा न्यौछावर करता है, यह उसका द्वन्द्व सहन है। शुद्धि रखना, ब्रह्मचर्य्य व्रत का पालन करना और मनसा वाचा-कर्मणा किसी को भी दुःख न देना, यह सभी सिद्धान्त द्वन्द्व सहन के सिद्धांत हैं।

इसलिए जो उपरोक्त सिद्धांतों पर चलने का प्रयत्न करता है वह अवश्य द्वन्द्वों को सहन करने वाला परम तपस्वी है। इससे आगे के दो श्लोकों के अन्दर भी भगवान श्रीकृष्ण ने वाङ्गमय और मानस तप का वर्णन किया है :-

अनुद्वेगकरं वाक्यं

सत्यंप्रियहितं च यत्।

स्वाध्यायाभ्यसनं चैव

वाङ्मयं तप उच्यते।।

मनः प्रसादः सौमयत्वं

मौनमात्मविनिग्रहः।

भावसंशुद्धिरित्येत

त्तपोमानसमुच्यते।।

वाङ्गमय तपः – साधक को चाहिए कि इतनी मीठी व पवित्र वाणी बोले जिससे सुनने वाले का हृदय प्रसन्नता से नाच उठे, किन्तु ऐसा भी नहीं होना चाहिए कि मनुष्य सत्व तो बोले किन्तु उसके भाषण में कटुता भरी हुई हो। यदि किसी मनुष्य ने सत्य तो कहा किन्तु उसका कहना कटुता पूर्ण है जो वाणी दूसरे के हृदय को वर्षों तक दुःख देती रहे ऐसा सत्य हिंसक सत्य है। हमारा शास्त्रीय सिद्धांत है कि—

सत्यं ब्रू यात्, प्रियं ब्रूयात्

मा ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।

प्रियं च नानृतं ब्रूयात्

एष धर्मः सनातनः।।

अर्थात् सत्य बोले, किन्तु प्यारा सत्य बोले अप्रिय सत्य न बोले इसके अतिरिक्त किसी के प्रभाव में आकर के ठकुर सुहाती उक्ति के अनुसार प्यारा झूठ भी न बोले! यह सनातन धर्म कहलाता है। इसलिए यदि मनुष्य अपने जीवन में अनुद्वेगकर सत्य बोलने की आदत डाल लेता है तो वह परम तपस्वी है। इसके साथ-साथ स्वाध्याय का अभ्यास करना भी वाङ्गमय तप है। स्वाध्याय का अर्थ हम अपने पहले कई लेखों में बतला भी चुके हैं।

प्रणिवादिपवित्राणां जपः

मोक्षशास्त्राध्ययनं व स्वाध्यायः

अर्थात् ओंकार आदि परमात्मा के पवित्र नामों का जप करना अथवा मुक्तिदाता शास्त्रों का अध्ययन करना स्वाध्याय कहलाता है। स्वाध्याय के अंतरंग भेद कई प्रकार के हैं, जो कि अभ्यासी महात्माओं के अनुभूत हैं एवं परिणाम में सुख के दाता हैं। ओंकारादि परमात्मा के पवित्र नामों का जप पहले पहले जीभ से आरम्भ किया जाता है, जीभ से जपते-जपते यही मन्त्र मन में प्रवेश कर जाता है। इसको मानस जप कहते हैं। यही जप कालान्तर में बुद्धिगत हो जाता है और कारण शरीर में इसका संस्परण होने लगता है। और कालान्तर में यही जप साधक को स्फुट प्रज्ञा लोक तक ले जाया करता है जिससे साधक को सहज समाधि प्राप्त हो जाती है। वैसे हमारा शास्त्रीय नियम एक और भी है और वह यह है:-

स्वाध्यायात् योगमासीत योगात् स्वाध्याय मामनेत्। स्वाध्याययोग सम्पत्या परमात्माप्रकाशते।

अर्थात् स्वाध्याय का अभ्यास करता हुआ योगी, योग को प्राप्त करे। योग अर्थात् ध्यान समाधि हो जाने के बाद स्वाध्याय का मनन करें। स्वाध्याय और योग इन दोनों का निरन्तर अभ्यास कर लेने के बाद परमात्मा का स्वतः ही प्रकाश हो जाया करता है। साधकों के अभ्यास के लिए एक और भी नियम है जिसका उपदेश हमारे आचार्यों ने शास्त्रों में किया है वह इस प्रकार से है:-

स्वदेहमरणिकृत्वा प्रणवं

चोत्तारारणिम्।

ध्याननिर्मथनमअभ्यासात्

देवं पश्येन्निग्ढवत्।।

अर्थात् अपने शरीर को अरिण बनाकर के और प्रणव को उत्तरारणि बना करके ध्यान-निर्मथन के अभ्यास से छिपे हुए को देखे। प्रायः हम अपने सत्संगी बच्चों में प्रचार करते हुए कहा करते हैं कि जो लोग अनुष्ठान करना चाहते हैं वह लोग अपनी दिनचर्या को बना लें।

साधकों के लिये पालनीय नियम

प्रत्येक साधक को चाहिये कि वह ब्राह्म मुर्हूत में उठ जाये अर्थात् विरक्त साधकों को रात्रि के तीन बजे और गृहस्थ साधकों को कम से कम चार बजे उठ जाना चाहिये। चार बजे उठ जाने के बाद थोड़ा जलपान करके शौच जाना चाहिए। जल पीकर शौच जाने से उदर के मल साफ हों जाया करते हैं शौच जाने के बाद दन्तधावन करें। दन्तधावन करने के बाद में सवा घण्टे तक प्रत्येक साधक को नित्य योगिक व्यायाम, जीवनतत्त्व साधन जिसकी पुस्तक हमारे आश्रम से प्रकाशित हुई है उसमें लिखी विधि के अनुसार करना चाहिये। उसके बाद प्रत्येक साधक को १ घण्टा मन्त्र जाप एवं कम से कम आधा घण्टा ध्यान में बैठना चाहिये। उसके बाद नैत्यिक खान-पान अल्पाहार लेने के बाद अपने अन्य दैनिक कार्य करे, दफ्तर जाये, व्यापार करें। उसके बाद सायंकाल भोजन के बाद १ घण्टा मन्त्र का जाप करें और आधा घण्टा ध्यान करें और उसके बाद सो जाय। प्रत्येक साधक को अपना आहार सात्विक ही रखना चाहिये। रात्रि में योगनिद्रा की विधि से सो जाय और सुबह ४ बजे उठ जाय ताकि रात्रि में उसका योगध्यान स्वाभाविक होता रहे। इस प्रकार इस लेख के अन्दर लिखे हुए उपायों को अपना कर जो साधना को बढ़ायेंगे। उनके अन्दर शक्ति संवर्धन अवश्य अवश्य होगा।

जीवन और प्रारब्ध

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

संसार में प्रत्येक प्राणी का जन्म सद्-असद् योनि में उसके अपने प्रारब्ध कर्मों के अनुसार होता है। जन्म-जन्मान्तर के संचित कर्मसमूह में से मृत्यु समय जो कर्म फलोन्मुख होने के लिए आगे आ जाते हैं वे अपने सहयोगी सजातीय पुण्य-अपुण्य कर्मों को लेकर जाति आयु और भोग के रूप में प्राणी की जन्म योनिका निर्माण करते हैं। यही सृष्टि क्रम है, और यही परमेश्वरीय व्यवस्था है। प्राणी के इस वर्तमान जीवन को 'योग दर्शन' में 'दृष्ट जन्म वेदनीय:' कहकर इंगित किया है, और इससे अगले-भावी जीवन को अदृष्य जन्म वेदनीय: कहकर पुकारा गया है।

'योग दर्शन' के साधन पाद का यह सूत्र इस प्रकार है :-

क्लेश मूल: कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्म वेदनीय:।

अर्थात् क्लेश अविद्या आदि मूल हैं कर्मों के आशय का जो दृष्टि= वर्तमान और अदृष्ट=आगे आने वाले जीवनों में वेदनीय: यानी भोग्य हैं।

यह चिरन्तन सत्य है कि आत्मा अनंतकाल से शुभ-अशुभ तथा पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म मय कर्मों को करता और उनके फलों को भोगता चला आ रहा है। मानव योनि की उपलब्धि भी आत्मा को इसी कर्म-फल-भोग श्रङ्खला के अन्तर्गत ही होती हैं। जैसा कि हमने ऊपर उल्लेख किया है प्रारब्धानुसार ही भोग भोगने के लिए प्राणी को एक नियत और निर्धारित समय के लिए यह मानव देह प्राप्त होती है। जितने समय में सुखमय अथवा दुखमय भोग भोगे जा सकते हैं उतने ही समय के लिए उसे आयुष्य रूपी पाश से बांध दिया जाता है। भोगों के समाप्त होते ही उसकी यह पाश टूट जाती है और आत्मा पुन: अपने वर्तमान जीवन में किये गये शुभ-अशुभ कर्मों के तथा संचित कर्माशय में तीव्र संवेग के कारण आगे आ जाने वाले कर्मों का फल भोगने के लिए नयी योनि प्राप्त कर लेता है। आत्मा के देह-बन्धन का यह क्रम तब तक चलता ही रहता है जब तक कि वह तप: स्वायाय और ईश्वर प्राणिधान यानी क्रियायोग द्वारा अपने कर्माशय को दग्ध बीज करके समाधि लाभ प्राप्त नहीं कर लेता। जन्म-मरण के इस अनवरत चलने वाले चक्र से विमुक्त होने का सद्प्रयत्न प्राणी अन्य किसी योनि में नहीं किन्तु इस अमूल्य और सुर दुर्लभ नर-देह को पाकर ही कर सकते हैं। बुद्धि और विवेक ही जितनी बहुत राशि प्राणी को मानव जीवन में प्राप्त होती है उतनी अन्य किसी अन्य योनि में जाने पर उसे प्राप्त नहीं हो पाती।

अन्य सभी योनियां भोग योनियां हैं, मानव योनि ही ऐसी योनि है जिसमें उसे भोग-भोगने के अतिरिक्त विवेकपूर्वक कर्म करने का सुअवसर भी सुलभ होता है। अत: इस अमूल्य अवसर को प्रमाद में खो देना जीवन को अधोगति की ओर ले जाना ही कहा जा सकता है। आयुष्य अथवा जीवन की नपी तुली घड़ियों को सदाचरण, सत्कर्म, सद्व्यवहार और सन्मार्ग में सतत् मोड़ने का जो प्रयास और प्रयत्न करते रहते हैं वे ही अपने अपने सुखद और आनंद मय भविष्य का निर्माण कर पाते हैं। योग-साधना का मार्ग ऐसा ही मार्ग है जिस पर नियमित रूप से चलकर साधक उस अपार आनंद राशि को सहज ही पा लेता है, जिसे पाकर फिर यहां और कुछ पाना शेष नहीं रहता। यह आनंद राशि ही जगदात्मा भगवान कृष्ण का वह परम धाम है जहां जाकर जीव को जन्म-मरण रूपी चक्र में फिर आना नहीं पड़ता। जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते
तद्धाम परं मम्।

देवपुरी अयोध्या

वेदों में मानव देह को—

अष्ट चक्रा नव द्वारा देवानां पूर अयोध्या

कहकर इंगित किया गया है। देवनगरी यह इसलिए है कि इसमें इन्द्रियरूपी देवता निवास करते हैं आत्मा इन देवताओं का राजा=इन्द्र है। देह में निवास करने वाले इन देवताओं में कभी युद्ध या विवाद नहीं होता इसीलिए इस पुरी का नाम अयोध्या है। सभी एक-दूसरे के सहकारी और सहयोगी बनकर आत्मा यानी इन्द्र के आज्ञा पालन में तत्पर रहते हैं। मूलाधार चक्र से लेकर ब्रह्मरन्ध्र चक्र तक इस नगरी में आठ चक्र हैं। जिनसे इस पुरी में सदैव जीवन रस का संचार होता रहता है। ऐसी अनुपम देवपुरी को पाकर-अपने कुकर्मों द्वारा और असद् वृत्तियों के द्वारा राक्षस पुरी बनाने का जो काम करते हैं वे ही आत्मघाती कहलाते हैं।

किं कर्म किमकर्मेति ?

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

संसार में मनुष्य ही नहीं किन्तु प्राणी मात्र चाहे वह जलचर, नभरचर, थलचर कोई भी क्यों न हो, जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त कर्म-पाश से बँधा रहता है। इच्छा या अनिच्छा से जीवन-यापन की अनिवार्य आवश्यकताओं से जीवन-यापन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु एवं जीवन के व्यवहार हेतु उसे कर्म करना ही पड़ता है, उसकी यह कर्म शृंखला का परिणाम ही उसके वर्तमान जीवन से इतर भावी जीवन का अथवा यो समझिए कि उसके सद्-असद् योनि में जन्म लेने का कारण बनता है। 'योगदर्शन' में महर्षि पतञ्जलि ने प्राणी के साथ जन्म-जन्मान्तर से चली आ रही इस कर्म-श्रङ्गखला के परिणाम रूप को ही संस्कार की संज्ञा दी है और यही संस्कार प्राणी की प्रारब्ध के निर्माता बनकर उसे जाति, आयु तथा भोग रूप फल प्रदान किया करते हैं। इसीलिए संसार में यह उक्ति प्रचलित है कि मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। जैसे-कर्म वह करेगा वैसा ही उसका प्रारब्ध अथवा भाग्य उसे जाति आयु और भोग प्रदान करता रहेगा। प्रात: स्मरणीय गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी इसी शास्त्रोक्त उक्ति का समर्थन निम्न पंक्तियों में किया है—

कोउ न किहु – सुख दुःखकर दाता।
निज कृत कर्म भोग फलदाता।।

जब यह निश्चित है कि प्रत्येक प्राणी के सुख दु:ख का कारण उसके अपने किये हुए कम ही होते हैं, तब विवेकशील मनुष्य का क्या यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह जो भी कर्म करे उसे अपने और पराये हिताहित का विचार करके करें। यह सोच समझ कर करें कि उसका कार्य और कार्य-जन्य व्यवहार शास्त्रानुमोदित हैं या नहीं। साथ हीं वह यह भी विचार करें कि उसके कर्म लोक के लिए और उसकी अपनी आत्मा के लिए कल्याणकर हैं या नहीं। यदि इन कुछ कसौटियों पर कसकर मनुष्य अपने कार्य का मार्ग निश्चित करेगा तो निश्चय ही वह शास्त्र और मानव-मर्यादा के अनुकूल होगा। देश, समाज और व्यक्ति के हित में किये जाने वाले कार्य ही- जिन्हें धर्म या कर्त्तव्य समझ कर किया जाता है— पुण्य कर्मों की परिभाषा में आते हैं, तथा फलाकांक्षा रहित इन कर्मो को ही श्रीमद्भगवद्-गीता में निष्काम कर्म की संज्ञा दी गई है। फल की कासना से रहित जो कर्म किये जाते हैं वे मनुष्य के बन्धन के कारण नहीं होते। जगदात्मा ने इसी हेतु हमें यह निश्चयात्मक सत्परामर्श भगवद्गीता में दिया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते
मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा
ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।

(गीता २/४७)

अर्थात् हे अर्जुन तेरा अधिकार केवल कर्म के अनुष्ठान में है फल में कदापि नहीं। इसलिए कर्मफल की आसक्ति वाला तू मत बन, तथा कर्म न करने की प्रवृत्ति भी तुझमें नहीं होनी चाहिए।

बड़ी स्पष्टता से योग योगेश्वर भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी ने अर्जुन को निमित्त बनाकर जगत को यह सन्देह भी दिया है कि कर्मफल की वासना न करने का यह अभिप्राय नहीं है कि मनुष्य कर्म से ही विरत हो जाय। कर्त्तव्या-रूढ़ तो उसे सदैव रहना ही चाहिए। अकर्मण्य बन जाने से तो जीवन की सारी व्यवस्था ही नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगी। श्रेयपथ पर बढ़ने की और समाधि अथवा मुक्ति प्राप्ति की योजना का फिर अर्थ ही कुछ न रहेगा। जगदात्मा ने अपने इसी अभिप्राय को आगे और भी अधिक स्पष्टता से इस प्रकार कहा है—

योगस्थ कुरु कर्माणि
संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्धयसिद्धयो: समो भूत्वा
समत्वं योग उच्यते।।

(गीता २/४८)

अर्थात् हे धनञ्जय! योग में स्थित हुआ तू आसक्ति (फलासक्ति) को छोड़कर-सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला होकर सम-भाव से कर्मो को कर क्योंकि कर्मों को समता से करना ही योग है।

भगवान का यह सन्देश विशेष रूप से योनियों के लिए ही है। कर्म के सम्पादन में यदि सिद्धि-असिद्ध पर कर्ता का ध्यान चला गया तब ऐसी दशा में न तो सम्यक् रूपेण कर्म का समापन हो पाता है और न ऐसा कर्म, निष्काम कर्म की उस परिभाषा में ही आ पाता है जिसके आधार पर मनुष्य जन्म-मरण की श्रङ्खुला से अपना पीछा छुड़कर परमानन्द रूपी पद को प्राप्त करता है। फलाकाँक्षा से रहित योगस्थ होकर किये जाने वाले कर्म ही विहित कर्म कहलाते हैं और ऐसे ही कर्मों को ईश्वरार्पण हेतु किये जाने

वाले कर्म कहकर पुकारा जा सकता है। ईश्वर की पूजा में भी अर्पित किये जाने वाले ऐसे फलाकांक्षा रहित कर्म-प्रसून ही साधक को समाधि सिद्धि का लाभ प्राप्त कराने में समर्थ होते हैं जैसा कि स्वयं भगवान ने कर्म की महत्ता बताते हुए श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में कहा है–

स्वे-स्वे कर्मण्यभिरत:
संसिद्धि लभते नर:।
स्कर्मनिरत: सिद्धि
यथा विन्दति तच्छृणु।
यत: प्रवृत्ति भूतानां
येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्यै
सिद्धि विन्दति मानव:।।

(गीता)

अर्थात् 'स्वयं अपने कर्त्तव्य कर्मों में रत रहकर ही पुरुष संसिद्धि प्राप्त करते हैं। अपने कर्म में लगा हुआ मनुष्य किस प्रकार सिद्धि प्राप्त करता है सो तू मुझसे सुन।''

'अपने कर्त्तव्य कर्मों को करना ही उसकी पूजा है जिससे सब प्राणियों, यानी भूतों का आविर्भाव हुआ है, और जिससे यह सब जगत व्याप्त है। इस प्रकार की पूजा से ही मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है।'

वेद-शास्त्र के द्वारा अनुमोदित और ऋषि मुनियों द्वारा निर्धारित, फल की कामना से रहित कर्म ही प्रभु की पूजा की सर्व श्रेष्ठ साधन -सामग्री है और इन्हीं से मनुष्य सिद्धि अर्थात् मुक्ति प्राप्त कर पाता है, यह भगवान श्रीकृष्ण का सुनिश्चित मत है जिसे हमने उन्हीं के शब्दों में श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के उपरोक्त श्लोकों द्वारा ऊपर स्पष्ट किया है। परम प्रभु की अर्चना और पूजा जिन पावन-कर्मों से ही जा सकती है वे ही निष्काम कर्म की संज्ञा में आते हैं– इनसे प्रतिकूल वासनामय कर्म विकर्म कहे जाते हैं। यही 'किंकर्म किम कर्मेति' की व्याख्या है जिसे प्रत्येक योग साधक को भली प्रकार समझकर सदा कार्यरत रहना चाहिए। अकर्मण्यता का जीवन व्यतीत करना योगियों और सिद्धि-लाभ की अभिलाषा रखने वाले साधकों को किसी दशा में श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता। अकर्मण्यता विकर्म का ही एक दूसरा रूप है। भगवद्‌गीता में कर्म और अकर्म की परिभाषा करते हुए योगिराज कृष्णने कहा है कि इनका भेद समझने में बुद्धिमान भी भ्रमित हो जाते हैं अत: मैं तुझे बताऊँगा कि कर्म कैसे करना चाहिए। इसे जानकर तू अशुभ से बच जायेगा। यथा—

किं कर्म किमकर्मेति कपयोऽप्यत्र मोहिता:।
तत्तेकर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।

आगे वे कहते हैं— जो कर्म स्वार्थ, कामना, त्याग के सिद्धान्त को अपनाते हुए मनुष्य स्वाभाविक रूप से करने लगता है यानी सहज भाव से कर्म करना जब उसका सहजधर्म बन जाता है तब वही कर्म अकर्म कहलाता है। इस रीति से कर्मों को अकर्म की संज्ञा में ले आने का प्रयत्न ही साधक को ईश्वर प्रणिधान की सीमा में लाकर खड़ाकर देता है और भगवान पतञ्जलि के शब्दों में यह उसे समाधिलाभ का अधिकारी बना देता है।

विशुद्ध मनसो नन्दन्ति योगीश्वराः

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

विशुद्ध अन्तःकरण वाले योगिराज ही परमानन्द की प्राप्ति कर पाते हैं, इस परम सत्य का समर्थन संस्कृत साहित्य के उद्भट कवि और परम योगी श्री भर्तृहरि महाराज ने अपने लोक प्रसिद्ध शतक त्रय के वैराग्य शतक नामक खण्ड में इस प्रकार किया है—

आशा नाम नदी मनोरथ
जला तृष्णातरङ्गाकुला।
रागग्राहवती वितर्क–,
विहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्तसुदुस्तराऽतिगहना,
प्रोत्तङ्गचिन्तातटी।
तस्याःपारगता विशुद्ध–
मनसो नन्दन्ति योगीश्वराः।

अर्थात् इस संसार में आशा नाम की नदी प्रवाहित हो रही है जिसमें मनोरथ रूपी जल भरा हुआ है, तृष्णा रूपी बड़ी–बड़ी लहरें उठती रहती हैं, राग–द्वेष रूपी घड़ियाल और मगरों का जिसमें आवास है, तर्क–वितर्क रूपी पक्षी क्रीड़ा करते रहते हैं, नदी का प्रबल प्रवाह धैर्यरूपी वृक्ष को गिराता रहता है, तथा मोहरूपी भँवरों ने इसे और भी विकराल बना दिया है। बड़ी–बड़ी चिन्तायें इसके ऊँचे–ऊँचे तट हैं। फिर भी ऐसी भयंकर और दुर्गम नदी को विशुद्ध मन और अन्तःकरण वाले योगी निर्वाध रूप से पार करके आनंद को प्राप्त होते हैं।

बड़े ही सुन्दर रूपक मे योगिराज भर्तृहरि ने जग–जीवन की दुरूहता और जटिलताओं का चित्रण हमारे सामने रखा है। मनुष्य आखिर आशारूपी पाशों में ही तो बँधा हुआ है। मनोरथ और आशाओं की तरंगों का ही दूसरा नाम तो चित्त की वृत्तियाँ हैं। योग–दर्शनकार कहते हैं कि इन्हीं अगणित और असंख्य चित्त वृत्तियों का निरोध कर लेना ही योग है और जो चित्त की वृत्तियों को रोकने में सफल हो जाता है वही योगी और सिद्ध–योगी की पदवी पा जाता है। तृष्णा की तरंगों से उद्वेलित, राग–द्वेष के मगर–मच्छों से पूर्ण तर्क–वितर्क के बहुरंगे–विहंगों से भयावनी बनी इस ऊँचे–ऊँचे चिन्तातटों से घिरी हुई सर्व नाशिनी नदी को वे कदापि पार नहीं कर सकते जो योगी नहीं हैं। भोग और आसक्ति वृत्ति वाले व्यक्ति तो इसे पार करने का कदापि साहस नहीं कर सकते। यदि कर भी डालते हैं तो सफल मनोरथ नहीं हो पाते, वे इसकी प्रबल तृष्णा–तरंगों और मोहावर्त में पड़कर ऐसे बह जाते हैं कि फिर जन्म–जन्मान्तर तक इससे निकल कर बाहर आने का अवसर ही नहीं प्राप्त कर पाते। प्रतिकूल इसके वे योगिराज जिन्होंने अपनी समूची चित्त–वृत्तियों को भौतिक जगत से मोड़कर प्रभु चिन्तन अथवा ब्रह्म साक्षात्कार की ओर लगा दिया है, यम और नियम के महाव्रत जिनके आचारण में अपना गहरा स्थान बना चुके हैं, धारणा, ध्यान और समाधि जिनका सहज स्वभाव बन चुका है वे इसे सरलता से पार करके उस लोक में जा पहुँचते हैं जहाँ आनन्द ही आनन्द है। ऐसे योग–परायण मनस्वी संसार में रहते भी हुए साँसारिक बाधाओं से अलिप्त रहते हैं। देह रखते हुए भी वे महाराजा जनक की भांति विदेह कहलाते हैं और अपने इस जीवन में ही वे ब्रह्म के साक्षात्कार का सुअवसर पा लेते हैं।

योगिराज भर्तुहरि का उपर्युक्त श्लोक संसार की उलझनों और विषमताओं से संघर्ष करके उन्हें पद दलित करके साधक को अपने ध्येय की ओर अविराम गति से आगे बढ़ने का जहाँ परामर्श देता है वहाँ दूसरी ओर उससे साधक को यह सत्परामर्श भी प्राप्त होता है कि बिना योग–साधना के उसमें यह शक्ति और साहस आ ही नहीं सकता, जिसको आधार बना कर वह इस विविध विषमताओं, अवरोधों से भरी हुई नदी को पार करके परमानन्द की प्राप्ति कर सके। अतः प्रत्येक योग–प्रेमी को सफल और शक्ति सम्पन्न योगी बनने के लिए सतत साधना करनी चाहिए।

योगिराज भर्तृहरि ने अपने वैराग्य शतक में और भी अनेक स्थलों पर योगमार्ग अपनाने का परामर्श मानव मात्र को दिया है। उन्होंने कहा है कि साँसारिक भोग चमकती बिजली के समान अस्थिर हैं। आयुष्य वायु द्वारा तितर–वितर किये गये पानी बरसाने वाले मेघों की नाई क्षण भंगुर है जवानी की उमंग की तरंगें भी अस्थायी और क्षण–भंगुर हैं। इसलिए हे विचार–शील पुरुषों! तुम्हें धैर्यपूर्वक की गई समाधि साधना तथा सुलभ योग में मन लगाना चाहिए। वे कहते हैं—

भोगा मेघवितानमध्य–
विलसत्सौदामिनीचञ्चला।
आयुर्वायुविघट्टिताम्रपट–
लीलानाम्बुवद्भंगुरम्।
लोला यौवनलालसास्तनु
भृतामित्याकलय्य द्रुतं।
योगे धैर्यसमाधिसिद्धिसुलभे
बुद्धिं विदध्वं बुधाः।।

स्वरूप-स्थिति के दिव्य साधन

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

भगवान पतञ्जलिदेव ने योगदर्शन के प्रारम्भ में योग की परिभाषा लिखकर चित्त–वृत्तिनिरोध को ही स्वरूप प्रतिष्ठा एवं केवलीभाव बतलाया है। अर्थात् केवलीभाव को प्राप्त करने के लिए हमारे शास्त्रों में मतिभेद से अनेकानेक साधनों का वर्णन मिलता है। उनमें से साधन–योग के अभ्यासी योगी को जो पहले से ही मन की एकाग्रता के साथ जो अपने आपको परम श्रेय का भागी बनाना चाहता है उसको क्रमश: यौगिक कोर्स का अध्ययन करना पड़ता है, और यौगिक कोर्स का निरूपण हमारे शास्त्रों में और भगवान कृष्णचन्द्र ने अपनी गीता में इस प्रकार से किया है—

इन्द्रियाणी पराण्याहुरि–
न्द्रियेभ्य: परं मन:।
मनसस्तु पराबुद्धिर्यो–
बुद्धे: परतस्तु स:।।

अर्थात् साधन–योग का अभ्यासी साधक अपने प्रबल पुरुषार्थ से इन्द्रियों के रूप का साक्षात्कार करे और उसके बाद मन का साक्षात्कार करें, मन के बाद बुद्धि और बुद्धि के बाद महत्तत्व का साक्षात्कार करके अपने आत्मस्वरूप में स्थित हो जाय। इस कोर्स की विधि से अभ्यास करने वाले योगीजन शनै:–शनै अभ्यास करते हुए अपने नित्य स्वरूप को प्राप्त हो जाया करते हैं जिसको योगदर्शन में चित्त–वृत्तिनिरोध के रूप में वर्णन किया गया है। किन्तु यह मार्ग सर्व साधारण के लिए क्लिष्ट मार्ग है, वस्तुत: तो योग मार्ग का जिज्ञासु महावीर्यवान्, परमोत्साही, अन्तरायों से अभिभूत न होने वाला दृढ़ता से निरन्तर अभ्यासशील साधक ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। अन्यथा थोड़े–थोड़े कदम बढ़ा कर साधक लोग भ्रमित चित्त होकर रुक जाते हैं एवं जिस उत्तम योगमार्ग का उन्होंने चयन किया था उसको छोड़ बैठते हैं। इन्हीं सब बातों को समझकर हमारे योगाचार्यों ने योग–जिज्ञासुओं के हितार्थ सरलता से प्राप्त होने लायक साधनों का आविर्भाव किया। जैसे षट्चक्रों का ध्यान करने से पांचों ज्ञानेन्द्रियों का स्वत: ही साक्षात्कार हो जाया करता है। मूलाधार का चिन्तन करने पर गन्ध तन्मात्र का अर्थात् घ्राणेन्द्रिय का एवं स्वाधिष्ठान–चक्र का साक्षात्कार करने से रसनेन्द्रिय जिह्वा का, मणिपूरक चक्र का साक्षात्कार करने से नेत्रेन्द्रिय का और इसी प्रकार अनाहत–चक्र का साक्षात्कार करने से त्वचा का और विशुद्धचक्र का साक्षात्कार करने से शब्द तन्मात्र अर्थात् कर्णेन्द्रिय का अनायास साक्षात्कार कर लेते हैं। इसमें उनको कोई विशेष पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता। केवल मात्र षट्चक्रों के देवों का ध्यान एवं सद्गुरु के शक्ति–संचार करने से बिना किसी श्रम के स्वरूप–स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु इस ही विषय को और भी सरलतम बनाने के लिए भगवान पतञ्जलि देव ने वीतराग पुरुषों के चित्त का अवलम्बन लेने की विधि का उपदेश किया—

वीतराग विषयं वा चित्तम्।।37।।

(समाधिपाद)

वीतरागचित्तालम्बनोपरक्तं वा योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति।

अर्थात् वीतराग पुरुषों के चित्त का अवलम्बन लेकर यदि योगी अभ्यास करता है तो सहज में ही उपरोक्त स्थिति को प्राप्त कर लिया करता है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अपने शब्दों में इसका पूरा–पूरा अनुमोदन किया है। अर्जुन को उपदेश देते हुए यह आदेश दिया है कि—

मय्येव मन आधत्स्व
मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव
अत ऊर्ध्वं न संशय:।।

अर्थात् हे अर्जुन! तू अपना मन मेरे अन्दर लगा दे, अपनी बुद्धि को मेरे अन्दर प्रवेश करा दे। इसके बाद तू मुझमें ही रहेगा, इसमें कोई शंका की बात नहीं।

इस श्लोक का सीधा अर्थ यह है कि जो भाव पतञ्जलिदेव ने **'वीतराग विषयं वा चित्तम्'** में दर्शाये हैं किन्तु सबसे बड़ी बात यह है कि दीन दुनिया के कर्ता–धर्ता, सबके हृदयेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने यह आदेश तो दे दिया किन्तु मन को उनमें किस प्रकार लगाये, बुद्धि का किस प्रकार लगाये, सर्व–साधारण के लिए यह आसान बात नहीं है, यह विधि के केवल योग–ध्यान के द्वारा हो सकती है। एक योगाभ्यासपरायण व्यक्ति जो समाधि के सही अर्थ को समझ चुका है वह यह जान सकता है कि मन को मन में कैसे मिलाया जा सकता है और बुद्धि को बुद्धि में किस प्रकार प्रवेश कराया जा सकता है। भगवान पतञ्जलिदेव समाधि की सही परिभाषा समझाने के लिये पातञ्जल योग–दर्शन में एक सूत्र लिखते हैं जिससे क्रियात्मिका समाधि का ज्ञान, पूर्णरूपेण हर व्यक्ति समझ सकता है।

श्री पतञ्जलिदेव ने धारणा, ध्यान, समाधि योग के तीन आभ्यान्तर अङ्गों का वर्णन किया है। किसी एक लक्ष्य स्थान में चित्त को इकट्ठा करने के प्रयत्न को धारणा कहते हैं और वही प्रयत्न जब एकाग्रता का रूप धारण कर लेता है एवं एक लक्ष्य में बराबर लगा रहता है और उसको आभ्यान्तर दृष्टि के द्वारा बराबर देखता रहता है तो इस अभ्यास को निरन्तर प्रयासपूर्वक करते रहने से चित्त के अन्दर यह योग्यता आ जाती है कि वह लक्ष्यीभूत वस्तु के आकार वाला बन जाया करता है, इसी को भगवान पतञ्जलिदेव समाधि कहते हैं। समाधि का लक्षण विभूति पाद के तीसरे सूत्र में श्री पतञ्जलि देव जी महाराज इस प्रकार लिखते हैं—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि:।।3।।

इस सूत्र पर पढ़िये श्री भगवान व्यासदेव जी का भाष्य—

ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशान्तदा समाधिरित्युच्यते।

अर्थात् ध्यान करने वाला चित्त जिस समय ध्येयाकार में परिणत हो जाता है उस समय ध्येय वस्तु के गुण कर्म स्वभाव का पूर्ण रूपेण प्राकट्य होने लगता है। उसी के फलस्वरूप योग ध्येयाकार में बदलकर अपने मन को ध्येय के मन वाला और उस ही की बुद्धि वाला बन लिया करता है। यह भी समाधि लगाने का एक सहज एवं उत्तम उपाय है। मन, मन में प्रवेश कर सकता है। बुद्धि, बुद्धि में लय हो सकती है। उसके बाद आत्मत्वेन वह सब कुछ एक है ही, इसी शुद्धार्थ का उपदेश भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी भगवद्गीता में— "**मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिंनिवेदशय।**" कहकर स्पष्टीकरण के साथ अपने अन्दर प्रवेश कर जाने वाली बात को अर्जुन के प्रति आदेशात्मक एवं संशय रहित कहकर समझाया है। इस सिद्धान्त को केवल मात्र योगाभ्यासी व्यक्ति ही समझ सकता है एवं समझकर अपने आपको तदाकार आकारित करके अपने आपको लय भी कर सकता है। पूर्ण सिद्ध योगिराज गुरु के शक्तिपात से यह बात जल्दी से जल्दी सम्भव हो सकती है। कदाचित कोई व्यक्ति सिद्ध-संगति को प्राप्त न हो सके उस हालत में अभ्यास योग के द्वारा इस स्थिति को पाया जा सकता है, वही आदेश अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण समझा कर कहते हैं कि हे अर्जुन! यदि तुम अपने मन और बुद्धि को मुझमें प्रवेश नहीं करा सकते हो तो अभ्यास योग के द्वारा मुझे प्राप्त करने की चेष्टा करो। पढ़िये श्रीमद्भगवद् गीता के बारहवें अध्याय का श्लोक—

अथ चित्तं समाधातुं न
शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो
मामिच्छाप्तुं धनंजय।।

अर्थात् हे अर्जुन! यदि तुम मुझमें चित्त धारण कराने में असमर्थ हो तो अभ्यास योग के द्वारा मुझको प्राप्त कर लेने की चेष्टा करो। यदि तुम अभ्यास योग में भी असमर्थ हो तो हर कर्म मेरे निमित्त करो—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि
मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि
कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि।।

अर्थात् यदि अभ्यास भी पूरा-पूरा नहीं बन सकता है तो भगवान कहते हैं कि तुम मेरे निमित्त कर्म करो। मदर्थ कर्म का सीधा स्पष्ट अर्थ स्वयं भगवान कृष्ण ने स्पष्टीकरण के साथ इस प्रकार कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि
यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय
तत् कुरुस्व मदर्पणम्।।

अर्थात् हे अर्जुन! जो तुम खाते हो वह मेरे लिए खाओ अर्थात् उसमें तुम्हारा अपना स्वत्व कुछ न रहे। जो करते हो मेरे लिये करो। जो यज्ञादि करते हो, दान करते हो वह मेरी खुशी के लिये करो और जो तपश्चर्या आदि करते हो, वह सब मेरे लिए करो। यदि मनुष्य अपने जीवन के अन्दर हर कर्म मदर्थ करे तो उन कर्मों में से उसका अपना अधिकार उठ जाया करता है और वह उसका सब कर्म ब्रह्मार्पण बुद्धि से ही होता है। अत: करने वाले की अपनी आसक्ति उस कर्म में नहीं रहती वह स्पष्ट शब्दों में कहता है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महवि:
ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं
ब्रह्मकर्म समाधिना।।

अर्थात् ब्रह्मार्पण बुद्धि से किया गया कर्म ब्रह्म को ही पहुँच जाता है। इसलिये हमारे हिन्दू धर्म के अन्दर सद्गृहस्थ लोग भगवान को भोग लगाकर भोजन करते हैं। इस प्रकार जो साधक अपने इष्टदेव को, श्रीकृष्ण चन्द्र को सर्वकर्मार्पण कर देता है तो वह सारे के सारे कर्म उसके अपने लिए फल के दाता नहीं रहते। कृष्णार्पित कर्म जन्म मरण से मनुष्य को छुटा देंगे क्योंकि आग में डाले हुए कोई भी वपन योग्य बीज पुन: जमते नहीं प्रत्युत जलकर भस्म हो जाया करते हैं और वह सबके सब खुद ही खत्म हो गये तो साधक भी जन्म-मरण के चक्र से छूट ही जायेगा। क्योंकि उसके अपने कर्म कुछ भी नहीं रहे। यह दूसरा उपाय त्रिलोकचन्द्र भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को मुक्ति-प्राप्ति के लिए बताया किन्तु अपनी हर क्रिया को कृष्णार्पण कर देना यह कथनमात्र से संभव नहीं हो सकता। यह वही व्यक्ति कर सकता है जो संप्रज्ञात-योग की आनन्दानुगत समाधि में प्रवेश कर चुका है वह 'मीरा' और 'नरसी' की तरह से उनके निमित्त मिट चुका है, जिसको श्रीकृष्णचन्द्र के अतिरिक्त कुछ भी भाता ही नहीं है वह व्यक्ति "**तत्सुखेसुखत्वम्।**" के भावों को हृदय में अपनाये रहता है उसका

खाना-पीना, मरना-जीना अपने प्रयत्न के निमित्त ही बनता है। इन्हीं सब बातों को मद्देनजर रख कर भगवान श्रीकृष्ण ने स्पष्ट शब्दों के अन्दर कह दिया—

मदर्थंमपि कर्माणि
कुर्वंन् सिद्धिमवाप्स्यसि।

इसके बाद भगवान श्रीकृष्ण मुमुक्षजनों के लिए चौथा उपाय बतलाते हैं—

अथैतदप्यशक्तोसि
कर्तुमद्योगमाश्रित:।
सर्वकर्मफलत्यागं ततो
कुरु यतात्मवान्।।

अर्थात् यदि तुम मदर्थ कर्म करने में भी असमर्थ हो तो मेरी सहायता को लेकर के कर्मफल की इच्छा को ही छोड़ दो, यदि ऐसा कर लोगे तो वह भी कल्याण का पूरा साधन बन जायेगा। इसी का नाम निष्काम कर्मयोग का अभ्यास है। यदि नाम निष्काम कर्मयोग का अभ्यासी बन जाया करता है तो वह अपने आप ही कर्म बन्धन से छूट जाया करता है और मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। भगवान ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्म-
तृप्तश्च मानव:।
आत्मन्येव च संतुष्ट:-
स्तस्य कार्यं न विद्यते।।
नैव तस्य कृतेनार्थो
नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्व भूतेषु
कश्चिदर्थव्यपाश्रय:।
तस्माद सक्त: सततं
कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म
परमाप्नोति पुरुष:।

अर्थात् जो व्यक्ति आत्म-ध्यान-परायण अपने आप में ही मग्न रहने वाला, सब प्रकार से अपने आत्म-स्वरूप में संतुष्ट है वह कुछ भी कर्म करे या न करे वह कर्म-बन्धन में फँसा नहीं रहता, उसको तो उसके सभी कर्म कर्त्तव्य मात्र के लिये किये जाने वाले होते हैं। इसलिये अर्जुन को आदेश दिया— हे अर्जुन! कर्मासक्ति को छोड़कर कर्म को करो। इस प्रकार कर्म करते हुए अवश्य ही परमपद को प्राप्त हो जाओगे और एक खास बात यह है—

नेहाभिक्रम नाशोऽस्ति
प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य
त्रायते महतो भयात्।।

अर्थात् इस निष्काम कर्मयोग का अभ्यास यदि थोड़ा सा भी किया जाय तो इसका फल नष्ट नहीं होता, इसका करने वाला मनुष्य सभी प्रकार के अन्तरायों से बच जाया करता है। वह निर्भय होकर संसार में विचर करता है। और समय आने पर अवश्य जनकादिकों की तरह से परमपद को पा लेता है। यह चार प्रकार के उपाय गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने परमार्थ प्राप्ति की इच्छा वालों के लिये खोल-खोल कर बता दिये हैं जिससे मुमुक्षुजन परम-श्रेय के भागी बन सकें।

अभ्यासी साधकों की दिनचर्या

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

प्रत्येक योगमार्ग के साधक के लिए अथवा उनके लिए जो योगमार्ग के अतिरिक्त किसी भी प्रकार की साधना करता है, अपने अभ्युदय के लिए कुछ आवश्यक नियमों का पालन अनिवार्य रूप से करना पड़ता है। हमारे शास्त्रों में स्थान–स्थान पर ऐसे आदेश और उपदेश मिलते हैं जिनको पालन करने से साधक, अपने आपको न केवल कृतकृत्य कर सकता है किन्तु सहज ही अपने लक्ष्य को भी प्राप्त कर लेता है। प्राय: देखा जाता है कि साधक वर्ग अपने गुरु उपदिष्ट मार्ग से यथा–तथा साधनायें तो कर लेते हैं किन्तु उनके अपने नियम कुछ भी नहीं होते। जैसे–जैसे उनको अवकाश मिलता है अपने अभ्यास में बैठ जाते हैं किन्तु वे इस पर बिल्कुल भी ध्यान नहीं देते कि उनकी दिनचर्या कैसी होनी चाहिए, खान–पान कैसा और कितना हो, किन नियम और व्रतों की शृंखला में साधक अपने को बाँधकर रक्खे इसका पूरा–पूरा ज्ञान उन्हें नहीं होता। इसका परिणाम यह होता है कि वे साधक अपने यथार्थ लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाते।

सबसे प्रथम अभ्यासी साधक का कर्त्तव्य यह होना चाहिए कि उसे अपनी दिनचर्या और रात्रिचर्या नियमित रूप से बनाकर रखनी चाहिए। जो साधक अपनी बनाई हुई दिनचर्या और रात्रिचर्या के अनुसार चलते हैं, तद्नुसार अपनी साधनायें करते हैं, साधना उनका साथ देने लगती है और वे अपनी स्थिति यानी लक्ष्य को प्राप्त करने वाले बन जाया करते हैं।

भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने श्रीमद्भगवद्गीता में आदेश दिया है कि एक योगी साधक को अपने आहार–विहार पर पूरा नियन्त्रण रखना चाहिए। जो साधक अनियमित रूप से जिह्वा के स्वाद को सम्मुख रखकर अधिक मात्रा में भोजन करते रहते हैं वे अपने लक्ष्य की ओर नहीं बढ़ सकते। निद्रा और आलस्य उन्हें घेर लिया करता है। स्वयं भगवान कहते हैं—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति
न चैकान्तमनश्नत:।
न चाति स्वप्नशीलस्य
जाग्रतो नैव चार्जुन।।
युक्ताहारविहारस्य
युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य
योगों भवति दु:खहा।।

–गीता ६/१६–१७

अर्थात् जो लोग अधिक भोजन करते हैं वे योग सिद्धियों को नहीं पा सकते और जो लोग हठधर्मी में आकर भूखे रहते हैं वे भी सिद्धि को नहीं पा सकते, तथा जो लोग वासना भोगी होकर बहुत ज्यादा सोते रहते हैं वे भी अपने लक्ष्य को नहीं प्राप्त कर सकते। प्रतिकूल इसके वे भी जो व्यर्थ के वाग्विलास में समय व्यतीत करके रात्रि में ठीक समय पर शयन नहीं करते वे भी सिद्धि को नहीं पा सकते। प्रत्युत जो लोग अपने आहार–विहार में युक्त हैं और प्रत्येक कार्य–कलाप में जो युक्त चेष्टा वाले हैं, जिनका सोना और जागना नियमित है योग उनके लिए दु:ख का नाश करने वाला हो जाता है। भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने श्रीमद्भगवद् गीता के १८ वें अध्याय में भी इसी प्रकार का एक और आदेश दिया है जो प्रत्येक अभ्यासी साधक के लिए परमावश्यक एवं पालनीय है। मेरी अपनी राय में साधक के जीवन में प्रकाश देने वाला यह एक और आदेश जो भगवान ने दिया है इस प्रकार है—

विविक्तसेवी लघ्वाशी
यत वाक्कायमानस:।
ध्यानयोगपरो नित्यं
वैराग्यं समुपाश्रित:।।
अहंकारं बलं दर्पं कामं
क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्मम: शान्तो
ब्रह्मभूयाय कल्पते।।

– गीता १८/५२–५३

अर्थात् जो साधक विविक्त सेवी है अर्थात् एकान्तवास करता है और इसके साथ–साथ थोड़ा व नियमित भोजन करता है और अपनी वाणी शरीर व मन पर नियन्त्रण रखता है एवं मन में वैराग्य धारण करके ध्यानाभ्यास करता रहता है और अपने अहंकार, बल, दर्प, काम क्रोध एवं परिग्रह का त्याग करके शान्त–भाव से स्थित रहता है। वह ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है। और जिसने अपनी साधना से इस प्रकार की स्थिति का सम्पादन कर लिया है वह अवश्य ही अपने आपको कृतकृत्य करता हुआ ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है और प्रसन्नात्मा बनकर वह सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। अत: साधना मार्ग के सभी पथिकों को अपना जीवन तपोमय बनाकर रखना चाहिए। वैसे तो शास्त्रीय संविधान के

अनुसार 'द्वन्द्व सहनं तपः' कहा गया है। अर्थात् सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, सुख-दु:ख, आदि का समान भाव से सहन कर लेना तप कहा जाता है और इसे दृष्टि में रखकर जो साधकगण अपने मनोनुकूल विविध प्रकार की कठिन साधनाओं को अपने जीवन में निहित करने के लिए तीव्रतम् तपश्चर्या आरम्भ कर देते हैं, जैसे कृच्छ-भाद्रायण व्रत करना, पञ्चाग्नि तपना, घोर सर्दी में भी शीतल जल में खड़े होकर तप करना। ऐसे तीव्रतम् तप अकरणातत्करण, श्रेय के सिद्धान्तानुसार किसी हद तक ठीक हो सकते हैं। यानी कुछ न करने से कुछ करना ठीक है किन्तु इस दशा में अखिल ब्रह्माण्डनायक भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने अपने मुखारबिन्द से साधकों को जो उपदेश दिया है वही उपादेय प्रतीत होता है और उसी को अपने जीवन में घटित करने का प्रयास साधकों को करना चाहिए। विविध तपों में उनका उपदेश इस प्रकार है।

शारीरिक तप—

देवद्विजगुरुप्राज्ञ

पूजनं शौचमार्जवम्।

ब्रह्मचर्यमहिंसा च

शारीरं तप उच्यते।।

-गीता १७/१४

अर्थात् इष्टदेव का पूजन, ब्राह्मणों का पूजन, गुरुदेव का पूजन एवं प्रज्ञा प्राप्त योगियों पूजन, शुद्धि रखना अपने आपको विनम्र बनाकर रखना, ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा पालन का व्रत रखना शारीरिक तप कहलाता है। साधक इस प्रकार शारीरिक तप करने के लिए अपने आपको अति कठोर साधनाओं में डाल देता है फिर भी परिणाम कुछ नहीं प्राप्त कर पाता। प्रत्युत साधक कालान्तर में क्रोध और अहंकार को धारण करके अपने आपको परम सिद्ध मानते हुए स्वयं को विवेक-पथ से मुक्त कर लेते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने शारीरिक तप का कितना सुन्दर विवेचन अपने श्रीमुख से किया है। हमारे शास्त्रीय सिद्धान्त भी इसी सत्य का प्रतिपादन करते हैं। विनम्रता का सद्गुण साधक की आयु, विद्या, बल और देश की वृद्धि का कारण बन जाता है। यथा—

अभिवादन शीलस्य

नित्य वृद्धोपसेविन:।

चत्वारि तस्य वर्धन्ते

आयुर्विद्या यशोवलम्।।

इसके अनुसार जो साधक देव, द्विज, गुरु एवं प्राज्ञा यानी ऋतम्भरा प्राप्त योनियों और विद्वानों का आदर और पूजन करते हैं एवं साथ ही ब्रह्मचर्य और अहिंसा व्रत का पालन करते हैं, वे निश्चय ही ब्रह्मभूत हो जाते हैं। अर्थात् उन्हें सर्वत्र ब्रह्म क: दर्शन और साक्षात्कार सहज सुलभ हो जाता है। ब्रह्मजाव में विचरण की जिनकी आदत पड़ जाती है उन्हें शीघ्रातिशीघ्र समाधि सिद्धि हो जाती है। ऐसे समाधि सिद्धि योगी सर्व समर्थ होकर क्या नहीं कर सकते? अर्थात् वे सब कुछ करने की क्षमता वाले बन जाते हैं।

इसी प्रकार भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने श्रभमद्भगवद्गीता में वाणी के तप के विषय में बतलाया है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं

सत्यं प्रियहितं च यत्।

स्वाध्यायाभ्यसनं चैव

वाङ्मयं तप उच्यते।।

-गीता १७/१५

अर्थात् मनुष्य को उचित है कि ऐसी मीठी वाणी बोले जिससे किसी को भी उद्वेग (उत्तेजना) पैदा न हो। शास्त्रों का भी उपदेश है कि—

सत्यं ब्रयात प्रियं ब्रूयात

मा ब्रूयात सत्यमप्रियं

अर्थात् मनुष्य को चाहिए कि सत्य बोले किन्तु अप्रिय कठोर उद्वेग को उठाने वाला सत्य न बोले। इसका अर्थ यह नहीं होना चाहिए कि मनुष्य ठकुर सुहाती कहने लगे और मीठी-मीठी बातों की आड़ में झूँठ बोलना भी आरम्भ करदें। अनुद्वेग यानी उत्तेजना न पैदा करने वाला सत्य बोलना ही मनुष्य का परम धर्म है। इसलिए भगवान ने ऐसी वाणी को वाङ्मय तप की संज्ञा दी है। इसके साथ-साथ स्वाध्याय नियमित रूप से करना भी आवश्यक है। स्वाध्याय के विषय में मैंने अपने पहले लेखों में कई बार स्पष्टीकरण किया है कि प्रणवादि नाम जप: स्वाध्याय अर्थात् ओंकार आदि परमात्मा के पवित्र नामों का जप करना या वेद, शास्त्र, उपनिषद् आदि का पाठ करना स्वाध्याय कहलाता है ऐसे स्वाध्याय का यह परिणाम निकलता है कि मनुष्य इष्ट देवता सम्प्रयोग: से अपनी मनोभिलषित कामनाओं को प्राप्त कर लेता है इसी को भगवान श्रीकृष्ण ने वाङ्गरूप तप कहा है जो प्रत्येक साधक के लिए अपने पालनीय नियमों के अन्तर्गत अत्यन्त आवश्यक है।

मानस तप—

इसके बाद तीसरा तप मानस तप के रूप में बतलाया है। मानस तप का अभ्यास करने वाले तपस्वी अधिकतर मौन व्रत को धारण किया करते हैं, किन्तु मौन व्रत धारण करने पर भी मन अपनी क्रियाओं को नहीं छोड़ता इसलिए जो रूपक भगवान श्रीकृष्ण ने बतलाया है उसका अभिप्राय मन की क्रियाओं का कण्ट्रोल करना अवश्य है। वैसा करने से ही भाव संशुद्धि सौम्यत्वं एवं मानस-प्रसाद को मनुष्य प्राप्त कर लेता है। और ऐसा करने से ही साधक अपने आप पर नियन्त्रण भी कर लेता है यह है मानसतप का यथार्थ रूप जिसको अपने पालनीय नियमों के अन्दर साधक को समावेशित करके रखना चाहिए।

यह कुछ इस प्रकार के नियम है जिनके पालन में साधकों को अनिवार्यता के साथ लगा रहना चाहिए। साथ-साथ अपनी दिनचर्या और रात्रिचर्या को नियमानुवतिता में सम्बद्ध कर देना चाहिए। जैसे नियमित सोना और नियमित उठना प्रत्येक गृहस्थ या विरक्त साधक को प्रात:काल पौने चार बजे उठ जाना चाहिए। ३ बजे विस्तर से उठने के बाद थोड़ा जल पीकर शौच जाना चाहिए। ऐसा करने से कोष्ठ-बद्धता की निवृत्ति होती है और बहुत ही सरलता से मल विसर्जन किया जा सकता है। किन्हीं लोगों को कौष्ठबद्धता की अधिक शिकायत होती है एवं उदर विकार रहता है उनको चाहिए कि वे प्रात:काल में पीये जाने वाले ऊषा पान में नीबू का रस मिला लिया करें। ऐसा करने से कोष्ठबद्धता की निवृत्ति बहुत ही जल्दी हो जायगी। शौच जाने के बाद दन्त-धावन बहुत ही आवश्यक है। दन्त-धावन करने वालों को बबूल की या मौलश्री की दन्त-धावन करनी चाहिए और दाढ़ी से चबाचबा करके उसका बहुत महीन ब्रुश बनाना चाहिए और दाढ़ों व दांतों पर उस ब्रुश को अच्छी प्रकार घिसना चाहिए। घिसने के बाद पानी से कुल्ला करके दांतों को साफ कर लेना चाहिए। इस प्रकार के ब्रुश बनाकर कम से कम ३ बार काटकर फेंकना और साफ करना चाहिए। इसके बाद दाँतौन को दांतों से चीर कर उससे जीभ साफ करनी चाहिए इसका नाम जिह्वा दाँतौन है इसके बाद शीतल ताजे जल से स्नान करना चाहिए। स्नान के बाद शरीर को खद्दर के तौलिये से घर्षण करके साफ करना चाहिए। स्नान करने के बाद नैत्यिक व्यायाम करना चाहिए व्यायामों में योगासनों का व्यायाम ही सर्वोत्कृष्ट व्यायाम है और इनमें भी सर्वोत्कृष्ट व्यायाम हमारे आश्रम का 'जीवन तत्व व्यायाम' है जिसको प्रभुजी ने विशेष रूप से साधकों के लिए अपने मन से प्रकट किया है। नैत्यिक व्यायाम ४ बने से ५ बजे तक १ घण्टा अवश्य करना चाहिए। ५ बजे से ६ बजे तक अपने गुरुमन्त्र का जाप करते हुए सवा सात बजे तक नियमित रूप से ध्यान में बैठना चाहिए। सवा सात बजे के बाद नैत्यिक स्वल्पाहार करके अपने नियमित रूप से निर्धारित गृहकार्यों को करना चाहिए जैसे सर्विस पर जाना अथवा दुकान पर जाना इत्यादि। दोपहर को साधक को शुद्ध सात्विक भोजन करना चाहिए। शुद्ध सात्विक आहार में क्या-क्या खाना चाहिए इसका हम किसी अपने दूसरे लेख में वर्णन करेंगे। भोजन के बाद में कम से कम दो घण्टे बाद कुछ फलों का सेवन करना चाहिए विशेष कर मौसम्मी व पपीता आदि। उसके पश्चात् शाम को लगभग ५ बजे करीब डेढ़ पाव या आधा किलो गाय का दूध धीरे-धीरे स्वाद ले ले कर पीना चाहिए। इसके बीच का समय गृहस्थियों को अपने गृह-कार्यों में लगाना चाहिए और विरक्त साधकों को अपना समय मन्त्र-जप या स्वाध्याय में लगाना चाहिए। मन को चिंतन में लगाये रखने का भी प्रयत्न करना चाहिए। सायंकाल ७ बजे तक इस कार्यक्रम के पश्चात् साधक को कुछ समय के लिए भ्रमण को जाना चाहिए। भ्रमण के बाद घर आकर नैत्यिक आरती पूजा संध्या-बंदन के बाद सात्विक भोजन कर लेना चाहिए। खयाल रहे कि भोजन को खूब चबाकर करना चाहिए जिससे उसका परिपाक जल्दी हो जाय। भोजन करने के उपरान्त १ घण्टे बाद १ पाव या १ $\frac{१}{२}$ पाव दूध पीना चाहिए इससे अधिक दूध नहीं पीना चाहिए। तदोपरान्त ९ से १० बजे तक निरंतर अपने गुरु मन्त्र का जप करते रहना चाहिए और १० बजे सीधे लेटकर अपने गुरु देव का ध्यान करते हुए सो जाना चाहिए। ऐसा करने पर निद्रा-काल में भी स्वत: ही भजन बनने लगेगा एवं निद्रा समाधि के रूप में परिवर्तित हो जायगी। इसी बात को लक्ष्य में रखकर सन्त कबीर ने कहा है कि—

सोना तो सबसे भला जो कोई जाने सोय।
अन्तरलौ लागी रहे सहजहि सुमिरन होय।।

यह है प्रत्येक साधक के लिए आवश्यक पालने योग्य दिनचर्या एवं रात्रिचर्या। यद्यपि इस लेख में बहुत विस्तार और स्पष्टीकरण के साथ हम सभी पालनीय नियमों व उपनियमों का उल्लेख तो नहीं कर पाये हैं फिर भी विज्ञ साधकों के लये संकेत ही काफी है। यदि इस लेख को पढ़ने वाले साधक लोग इस नियमावली का पूरी तरह से पालन करेंगे तो निश्चय ही वे पूरी तरह लाभान्वित होंगे।

वर्ण-भेद एवं योगाधिकार

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

प्राय: यह देखने में आता है कि सर्व साधारण लोग अपने आपको ऊँचे से ऊँचे अधिकार में बढ़ा लेना चाहते हैं। बात ठीक भी है। प्राणी मात्र का मन प्रगतिशील है और सभी में प्रगतिशीलता होनी भी चाहिए। किन्तु हमारे शास्त्रीय संविधान में इसके लिये 'अधिकार' का स्थान विशेष रूप से वर्णित है एवं इसका स्पष्टीकरण भी विशेषतया किया गया है। साथ ही साथ रामायण, महाभारत और स्मृतियों में स्पष्टतया खोल-खोल कर समझाया गया है कि अमुक प्रकार के गुणशील स्वभाव वाला व्यक्ति अमुक-अमुक विद्या का अधिकारी है। हमें इस बात का विचार अपने मन में अवश्य रख लेना चाहिए कि हमारे आचार्यों ने 'अधिकार' शब्द का अर्थ कार्यारम्भण सामर्थ्य अर्थात् कार्य करने की योग्यता के रूप में ग्रहण किया है। कार्यारम्भण सामर्थ्य का ठीक-ठीक अर्थ यही है कि जैसे पहली श्रेणी में पढ़ने वाला छात्र यदि पहली श्रेणी में पाठय-क्रम को विधि पूर्वक अध्ययन करता है, और उसमें योग्यता पाकर उत्तीर्ण हो जाता है तब वह दूसरी श्रेणी में प्रवेश कर पाने का अधिकारी बन जाता है। प्रथम कक्षा में उत्तमोत्तम ढ़ङ्ग से उत्तीर्ण हो जाने के बाद भी— वह द्वितीय कक्षा का ही, अधिकारी बनता है न कि वह अपनी प्रथम कक्षा के उपरान्त बी.ए., एम.ए. अथवा आचार्य का अधिकारी बन जाता है। जो लोग अपने बच्चों का अधिकार भेद के अनुसार अध्ययन नहीं कराते हैं उनके बच्चे मूर्ख रह जाया करते हैं, क्योंकि उनकी बुद्धि इतनी ऊँची शिक्षा को अपने अन्दर समावेशित कर ही नहीं सकती थी। इसी प्रकार से यौगिक शिक्षा या अन्य सभी प्रकार की शिक्षाओं में अधिकार-भेद बहुत ही आवश्यक है। इसी सिद्धान्त को लेकर के योगाधार भगवान पतञ्जलि जी ने मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र आदि चित्त भूमियों का वर्णन किया है और यह श्री व्यास देव जी महाराज ने स्पष्टतया खोलकर चित्त की स्थितियों को समझा दिया है। व्यास भाष्य में भगवान व्यास देव ने लिखा है—

चित्तं हि प्रख्याप्रवृतिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्, प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वं रज-स्तमोभ्यां संसृष्टमैश्वर्य्यविषयप्रियं भवति, तदेव तमसाऽनुविहमधर्माज्ञानावेराग्यानैश्वर्योपगं भवति, तदेव प्रक्षीणमोहावरणं सर्वत: प्रद्योतमानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्य्योपगं भवति, तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं धर्ममेघध्यानोपगं भवति, तत्परं प्रसङ्ख्यानमित्याचक्षते ध्यायिन:।

अर्थात् चित्त प्रख्याप्रवृत्ति स्थितिशील होने से त्रिगुणात्मक है। कभी-कभी चित्त जिस समय सतोगुण प्रधान रहता है और रजोगुण और तमोगुण गौण रहा करते हैं तब ऐसा चित्त ऐश्वर्य की प्यार करने वाला हुआ करता है। और वही चित्त जब तमोगुण प्रधान बनता है, एवं रजोगुण व सतोगुण उसमें गौण हो जाते हैं तब वह अधर्म, अवैराग्य एवं अनैश्वर्य को प्राप्त करने वाला हुआ करता है, एवं बदल जाने के बाद वही चित्त जब रजोगुण की मात्रा से घिरा रहता है तब मोहावरण क्षीण हो जाने के बाद धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाला होता है, एवं जब इसमें ये रजोगुण की मात्रा भी खत्म जैसी हो जाती है तब धर्ममेघ समाधि का अधिकारी बन जाता है। यही ध्यान करने वाले योगियों का परम प्रसङ्ग्यान है। हमारा इन पंक्तियों के लिखने का अभिप्राय केवल मात्र एक है कि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशील होने से चित्त जिस-जिस गुण की प्रधानता को ग्रहण करता है उसे ही अपने अधिकार भेद के अनुसार धर्म-ज्ञान वैराग्यादि प्राप्त किया करता है। जो चित्त सतोगुण प्रधान है वह धर्मज्ञान वैराग्यादि को प्राप्त करेगा और जो चित्त तमोगुण प्रधान है वह अधर्म, अवैराग्य और अनैश्वर्य को प्राप्त करने वाला स्वभाव से बन जायेगा। इस ही प्रकार से वर्ण-भेद की भी बात है। भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी श्रीमद्‌भगवद् गीता में अपने मुखारविन्द से स्वयं ये शब्द कहे हैं-

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागश:।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम्।।

अर्थात् चारों वर्णों को गुण विभाग से मैंने पैदा किया यद्यपि मैं अकर्त्ता हूँ और अ-व्यय हूँ फिर भी गुण कर्मों के विभागों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि को मैंने स्वयं बनाया है। मेरे विचार में हमारे पाठक जो हमारे लेख पढ़ते रहते हैं इस बात का विचार अवश्य होगा कि किसी भी मनुष्य का जन्म किसी एक कर्म के अनुसार नहीं हुआ करता है जब कोई व्यक्ति जन्म लेने लगता है तब उसका एक मुख्य कर्म अग्रणी बनता है और उसके साथ के वैसे-वैसे बहुत से कर्म एक कर्माशय के सृजन का कारण बन जाते हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी यज्ञ, दान, तप आदि के उत्कृष्ट कर्म को लेकर जन्म लेता है तो उस ही प्रकार के अनेकों कर्म उसके सहचारी बन जाया करते हैं— जैसे आजकल जिस पार्टी का मन्त्रिमण्डल बनता है उसी पार्टी से मन्त्रियों का चुनाव अपने अनुरूप— प्रधानमन्त्री या मुख्यमन्त्री करता है। विपरीत पार्टियों के व्यक्तियों को यथासम्भव नहीं लेता हैं। इसी प्रकार से एक मुख्य कर्म अपने जैसे अनेकों सहचारी कर्मों को लेकर एक कर्माशय का निर्माण करता है और कर्माशय के अंदर जिस प्रकार का कर्म समूह एकत्र हुआ उसके अनुसार ही सहजा प्रकृति बना करती है। सहजा प्रकृति उसी सहज स्वभाव का नाम है जो

मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त कायम रहा करता है। यह बात सर्वसाधारण में प्रचारित है कि जब कोई किसी व्यक्ति से कोई काम कराना चाहता है तब कहता है कि क्यों जी मैं अमुक व्यक्ति से अपना अमुक कार्य कराना चाहता हूँ वह कैसे स्वभाव का है क्या वह मेरा काम कर देगा? उस व्यक्ति के स्वभाव को जानने वाले लोग यह कहा करते हैं कि वह तो जन्म का ही महात्मा है वह तुम्हारा काम अवश्य कर देगा वह किसी के कार्य को मना नहीं करता और यदि वह व्यक्ति क्रूरकर्मा (तमोप्रधान) है तो उसे जानने वाले लोग यह कहा करते हैं कि अजी वह व्यक्ति तो जन्म से ही क्रूरकर्मा है वह तुम्हारा काम कैसे कर देगा? इसी का नाम सहजा प्रकृति है। जिसको साधारण भाषा में जन्मजात स्वभाव कहा करते हैं। यह स्वभाव अच्छे या बुरे कर्माशय के साथ मनुष्य के साथ पैदा हुआ करता है और जीवन-पर्यन्त साथ रहकर उसके साथ ही समाप्त हुआ करता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि वर्ण का भी आधार है। भगवान ने अपने मुखारविन्द से– 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः।' यह शब्द कहकर के वर्ण-मीमांसा को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है। अर्थात् वर्ण व्यवस्था भी एक ईश्वरीय देन है। मनुष्य के अपने अधिकार की वस्तु नहीं है। जैसे-जैसे कर्म समुच्चय को लेकर कर्माशय बनता है भगवत्कृपा से वैसे ही वैसे वर्ण में उस प्राणी का जन्म हुआ करता है। संसार में बहुधा लोग कहते हैं कि मनुष्य-मात्र की जाति एक है यह बात मनुष्यत्वेन बिल्कुल ठीक है। किन्तु जिस प्रकार वृक्षत्वेन बिल्कुल ठीक है। किन्तु जिस प्रकार वृक्षत्वेन वृक्षों की जाति एक है किन्तु आम, नीम, कदम आदि का भेद रहता ही है। और यदि आम का बीज बोया जाता है तो वृक्षत्वेन वृक्ष को बनेगा ही ऐसा नहीं होगा कि वह शेर, चीता बन जायेगा। लेकिन वह आम का ही वृक्ष बनेगा नीम या बबूल का नहीं। इसी ही प्रकार से मनुष्यत्वेन जाति एक होने पर भी वर्ण-भेद स्वाभाविक है और यह जन्मजात वस्तु है। ईश्वर की कृपापूर्वक ही मनुष्य ब्राह्मण वर्ण में पैदा होने लायक ब्राह्मणों में क्षत्रिय वर्ण में पैदा होने लायक क्षत्रिय में, वैश्य में पैदा होने लायक वैश्य में और शूद्र में पैदा होने लायक शूद्र वर्ण में ही पैदा होते हैं और जैसा-जैसा उनका बीज प्रधान होता है आगे भी उनकी सन्तान वैसी ही बनती जाती है। यह तो हो सकता है कि आम का वृक्ष पैदा हो जाने के बाद उसकी ठीक ढ़ङ्ग से सुरक्षा न की जाय, ठीक समय पर उसका खाद पानी आदि से सिंचाव न किया जाय तो वह कमजोर हो जाये सूख जाये, या फल में अन्य विकृति आदि आ जावे। परन्तु बीज बदलेगा नहीं। इसी सिद्धान्त के आधार पर भगवान ने इस बात को स्वीकार किया है कि– **''चातुवर्ण्य' मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः'** अर्थात् चारों वर्णों को गुण-कर्म विभाग के अनुसार मैंने पैदा किया। गुण-कर्मों के विभाग के अनुसार ईश्वर प्रदत्त स्वभाव आदि मनुष्य का आजीवन साथ दिया करता है। इसी नियम को सामने रखते हुए भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी श्रीमद्भगवत् गीता के अठारहवें अध्याय में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि के गुण-कर्मों का जन्मजात से पैदा होने वाले कहकर विभाजन किया है तथा बाद में यह निर्णय भी दे दिया है कि अपने-अपने कर्म-स्वभाव के अनुसरा ही संलग्न होकर मनुष्य सिदिध को प्राप्त कर सकता है। वह प्रकरण इस प्रकार है– पढ़िये श्रीमद्भगवत् गीता अध्याय अट्ठारह और श्लोक ४१ से ४५ तक–

ब्रह्मणक्षत्रियविशां
शूद्राणां च परंतप।
कर्माणिप्रविभक्तानि
स्वभावप्रभवैर्गुणैः।।
शमो दमरतपः शौचं
क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं
ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।
शौर्यं तेजो घृतिर्दाक्ष्यं
युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं
कर्म स्वभावजम्।।
कृषि गौरक्ष्यवाणिज्यं
वैश्यकर्मस्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्मं
शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।
स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः
संसिद्धि लभते नरः।
स्वकर्मनिष्तः सिद्धिं
यथा विन्दति तच्छृणु।।

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि के कर्म स्वभाव से पैदा होने वाले गुणों से बंटे हुए हैं। उनमें से शान्ति को धारण करना, इन्द्रियों पर दमन करना तप और शुद्धि करना, मन में शान्ति और नम्रता रखना, ज्ञान-विज्ञान और आस्तिकता ये सभी कर्म ब्राह्मणों के अन्दर स्वाभाविक हैं। और शूर-वीरता, तेज, धैर्य और चतुरता तथा युद्ध में निर्भयता, दान करना और अनुशासन भाव का होना क्षत्रियों के स्वाभाविक गुण हैं। कृषि कर्म, गौ सेवा, व्यापार ये वैश्यों के स्वाभाविक कर्म हैं। भगवान आज्ञा देते हैं—

स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः
सिद्धिं लभते नरः।

अपने-अपने स्वभावानुसार कर्म में निरत रहने रप ही मनुष्य सफलता को प्राप्त किया करता है। हमारे भारतीय इतिहास में बहुत सी कथायें मिलती हैं जो मनुष्य के जन्म-जात स्वभाव की पूरी-पूरी पुष्टि करती है। जैसे आजकल के जमाने में बादशाह बाबर और महाराणा सांगा के बारे में जनश्रुति प्रसिद्ध है कि बादशाह बाबर ने किसी से सुना कि क्षत्रियों के शव भी लड़ाई कर सकते हैं। उसने जाकर महाराणा सांगा से कहा कि महाराणा हमने यह सुना है कि ''क्षत्रियों के शव लड़ते हैं।'' क्या यह बात सत्य है? महाराणा ने बाबर को उत्तर दिया कि हां यह बात

बिल्कुल सत्य है। बादशाह बाबर ने यह कहा कि मैं आज यह देखना चाहता हूँ कि क्षत्रियों के शव कैसे लड़ते हैं? महाराणा साँगा ने जवाब दिया हाँ, हाँ शौक से देखिये। हम क्षत्रिय हैं इस बात को अवश्य दिखलायेंगे। इतना कहकर महाराणा सांगा ने विचार किया कि मैं किस नौजवान के सिर को काट दूँ जिससे कि बादशाह को यह विश्वास हो जाये— यथार्थ में बात यही है कि क्षत्रियों के शव लड़ा करते हैं। बहुत देर तक सोच-विचार कर महाराणा ने यही निश्चय किया कि मैं किसी और के बच्चे को क्यों मारूँ? मैं अपने ही बच्चे का सिर क्यों न काट दूँ जिससे बादशाह को यह ज्ञान हो जाये कि हां क्षत्रियों के शव लड़ा करते हैं। ऐसा निश्चय हो जाने के बाद महाराणा ने अपने बड़े लड़के का सिर काट दिया। किन्तु वह सिर कट जाने के बाद थोड़ी देर तलवार घुमाकर गिर गया। बादशाह पर वार नहीं कर सका। बादशाह हँस पड़े और बोले शव लड़ते हैं यह बात मिथ्या है। महाराणा को भी मन में दु:ख हुआ कि मेरी सन्तान इस प्रकार क्यों गिर गयी। वे रंग भवन में गये और अपनी रानी की चोटी पकड़ कर कहा कि सत्य बता यह किसका बीज था? यदि नहीं बताती है तो तेरी भी गर्दन मैं अभी उतारे देता हूँ। रानी ने विनम्रता के साथ हाथ जोड़कर कहा कि महाराज आप मेरी गर्दन उतार देना किन्तु मुझे अपनी बात कहने दो। महाराणा ने कहा कि अच्छा बताओ क्या बात है? रानी ने उत्तर दिया कि यह बीज तो आपका ही था किन्तु इसने दूध मेरा नहीं पिया था बांदी का दूध पिया था। यह दूसरा छोटा लड़का जो है यह आपका ही बीज है और दूध भी मेरा पीया है। यह अवश्य ही बादशाह पर 'वार' करेगा। नि:संकोच आप इसकी गर्दन काट दीजिये। महाराणा ने अपने बच्चे से पूछा बेटा तुम तैयार हो, उसने कहा हाँ पिताजी मैं बिल्कुल तैयार हूँ। महाराणा ने रंगभवन से बाहर आकर बादशाह से कहा मेरा बड़ा लड़का गिर गया है उसमें कमी थी किन्तु मेरा यह छोटा लड़का आपसे लड़ाई करेगा। बात निश्चित हो जाने के बाद महाराणा सांगा ने अपने छोटे बच्चे की गर्दन को काट दिया। उस बच्चे ने गर्दन कट जाने के बाद भी बादशाह पर इतने वेग से प्रहार किया कि बादशाह बड़ी कठिनाई से अपने प्राणों की रक्षा कर सका, और उसने खुले मन से कह दिया कि आज मैंने भली प्रकार से देख लिया कि क्षत्रियों के शव कैसे लड़ते हैं? ये गुण क्षत्रियों में ही स्वाभाविक हैं। किसी दूसरी जाति में यह बात हो ही नहीं सकती। इसी प्रकार से महाभारत में एक कथा मिलती है जो जन्मजात गुण-कर्म स्वभाव को प्रकट करती है। श्री परशुराम जी ब्राह्मणों को ही विद्या दिया करते थे एवं क्षत्रियों को नहीं। क्योंकि वह क्षत्रियों से विरोध मानते थे। कर्ण ने शिक्षा प्राप्त करने के लिए अपने आपको ब्राह्मण वेश में छुपा लिया, एवं श्री परशुराम जी से शिक्षा प्राप्त करने लगा। एक बार ऐसा एक अवसर आया, कि अकस्मात् श्री परशुराम जी कर्ण की जंघा पर सिर रखकर सोये हुए थे सहसा कर्ण की जंघा को एक कीड़े ने काट खाया और वह कीड़ा जंघा को काटते हुए आर-पार निकल गया किन्तु कर्ण पूरे साहस के साथ बैठा रहा उसने अपने पैर को हिलाया-डुलाया भी नहीं। गर्म-गर्म खून का स्पर्श होने से श्री परशुराम जी जगे और कर्ण से पूछा यह खून कहां से आया? क्या बात हुई? कर्ण ने उत्तर दिया। प्रभो आप सोये हुए थे कीड़े ने मेरी जांघ पर काट दिया है आपकी निद्रा में कोई व्यवधान न हो इस कारण से मैंने आपको नहीं जगाया अब स्वत: ही आप जग गये हैं। इतने बड़े-कड़े साहस को देखकर श्री परशुराम जी ने कर्ण से कहा इतना साहस ब्राह्मणों में नहीं हो सकता है। सच बतला तू कौन है? तू ब्राह्मण बिल्कुल नहीं। तूने कपट से मुझसे विद्या प्राप्त की है। कर्ण ने सत्य को स्वीकार किया और कह दिया कि हां महाराज मैंने आपसे कपट तो किया है। मैं ब्राह्मण नहीं हूँ। मैं क्षत्रिय ही हूँ। आपसे विद्या प्राप्त करने के लिए ही मैंने यह रूपक बनाया था। प्रभो! मुझे क्षमा कर दीजिये। परशुराम जी ने उसको क्षमा कर दिया। किन्तु साथ में यह दण्ड देकर क्षमा किया कि समय पर तू मेरी दी हुई विद्या को भूल जाया करेगा। अस्तु! इन दो उदाहरणों से ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के जन्मजात गुण-कर्म आदि की सत्यता तो सिद्ध है ही। अब रही बात यह कि योग विद्या को प्राप्त करने के लिए किस प्रकार का अधिकारी होना चाहिए? वैसे तो योग सार्वभौम विद्या है इसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, पारसी सभी का प्रवेश हो सकता है और सभी इसको प्राप्त भी कर सकते हैं। किन्तु अधिकार भेद यहां भी अवश्य चलेगा ही चलेगा। जो व्यक्ति जिस गुण-कर्म स्वभाव के अनुसार इसका अधिकारी हो सकता है वही इसको पा भी सकता है। सिंहनी का दूध सोने के पात्र में ही रह सकता है। पीतल तांबे आदि के पात्रों में रह ही नहीं सकता। योग विद्या के अधिकारी तो सभी लोग हैं किन्तु हठयोग का अधिकारी कौन है? राजयोग का अधिकारी कौन है? लययोग का अधिकारी कौन है? किसके अंदर जन्मजात गुण-कर्म स्वभाव इतने ऊँचे हैं कि वह इस विद्या को प्राप्त करने के लिए अपने आपको न्यौछावर कर डालें? योग-विद्या का इतना बड़ा विस्तार है कि अपने-अपने गुण-कर्मानुसार किसी की हठयोग में प्रवृत्ति हो सकती है, किसी की राजयोग में प्रवृत्ति हो सकती है, कोई लययोग का अधिकारी है एवं किसी का मन्त्रयोग के द्वारा ही उत्थान हो सकता है। जो लोग ब्रह्म-कर्म वाले जन्मजात स्वभाव वाले हैं जिनका उत्तम वर्ण में जन्म हुआ है वे लोग हठयोग, राजयोग तथा लययोग आदि के द्वारा अपने आपको बढ़ा सकतें। एवं जो लोग जन्मजात गुण-कर्म स्वभाव के अनुसार उत्तम अधिकारी नहीं है वे गुरुदेव के कथनानुसार मन्त्रयोग में प्रवेश करके शनै:शनै: अभ्यास करके समाधि द्वार तक पहुँच सकते हैं। किन्तु उनको उच्च स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते कुछ समय लग जायेगा। ऐसी बात नहीं है कि वह योग में बढ़ नहीं सकते। यह तो स्वयं गुरुदेव समझेंगे कि कौन किस प्रकार से चलने का अधिकारी है। सर्व समर्थ गुरुदेव जन्मजात गुण-कर्म स्वभाव के अनुसार जैसा जो अधिकारी है उसको उसके अनुसार शिक्षा देकर योग के चरम लक्ष्य को प्राप्त करा ही दिया करते हैं, यदि साधना करने वाला व्यक्ति गुणकर्म स्वभावानुसार बतलाये रास्ते पर उनकी आज्ञा को मानकर चलता चला जाये। अधिकार भेद पर हमने 'सिद्धयोग' के किसी अङ्क में एक लेख और दिया था और उसी लेख को इससे आगामी अङ्क में कौन अधिकारी किस प्रकार की योग-साधना में प्रवेश करके अपने आपको योग की चरमावस्था तक ले जा सकता है। विशेष रूपेण स्पष्ट करेंगे। आशा है विज्ञ साधक इन भावों को पढ़कर अवश्य लाभ उठायेंगे।

सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया:।

सर्वेभद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दु:खभाग्भवेत्।

अन्तरंग योग का प्रथम सोपान-
धारणा

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योग के विद्यार्थियों और साधकों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि योगपथ आठ भागों में विभाजित है। सभी यह जानते हैं कि योग के आठ अङ्गों में से-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार पांच बहिरंग और धारणा, ध्यान, समाधि तीन अन्तरंग भाग हैं। इन्हीं आठ भागों अथवा अङ्गों में श्रद्धा वीर्य वैराग्य आदि सद्गुणों का समावेश हो जाता है। यम और नियमों की परिधि में जीवन-उन्नयन के वे सभी गुण समाहित हो जाते हैं जिन्हें योगाङ्गों में बहिरंग कहकर पुकारा गया है। इन बहिरङ्गों में बहिरंग कहकर पुकारा गया है। इन बहिरङ्गों के पूर्ण परिपालन के पश्चात् ही साधक धारणा, ध्यान और समाधि- इन तीन अन्तङ्ग योगाङ्गों की सीमा में प्रवेश पा जाने का अधिकार प्राप्त कर पाता है। अत: इन तीन में धारण को हम समाधि लाभ का प्रथम सोपान कहकर पुकार सकते हैं। योगदर्शन के अनुसार- देशबन्धश्चित्तस्य धारणा-अर्थात् देश में– देह के किसी अङ्ग-विशेष में अथवा किसी लक्ष्य-विशेष में चित्त का टिका देना धारणा नामक योग का छठा अंग कहा जाता है। यह लक्ष्य-विशेष देह का कोई अंग हो अथवा देह से बाहर का। इस लक्ष्य-विशेष में टिका हुआ मन एकाग्रता की ओर उन्मुख होना शुरू कर देता है। एकाग्रता प्राप्त करने के पश्चात् ही वह ध्यान के क्षेत्र में प्रवेश पा जाता है। जहां से वह 'ध्यानं निर्विषयं मन.' का प्रमाण पत्र यानी समाधि लाभ का अधिकारी बन जाता है। महामुनि पतञ्जलि के—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार श्री व्यासदेव जी ने धारणा के स्थान अथवा लक्ष्य बिन्दुओं की चर्चा करते हुए कहा है—

नाभिचक्रे, हृदय पुण्डरीके, मूर्ध्नि ज्योतिषि, नासिकाऽग्रे, जिह्वाऽग्रे, इत्येवमादिषु देशेषु, बाह्ये वा विषये, चित्तस्य वृत्ति मात्रेण बन्ध इति धारणा।

अर्थात् नाभिचक्र, हृदय कमल, मूर्ध्व-ज्योति, नासिका अग्र, जिह्वा अग्र इत्यादि स्थानों पर चित्त की वृत्ति मात्र को एकाग्रे करना धारणा कहलाती है। वृत्ति मात्र कहने का अभिप्राय यह है कि इनको हम अपने मन की वृत्ति व कल्पनात्मक रूप से चिन्तन करें, जिस प्रकार से आंख रूप को प्रत्यक्ष देख लेती है और मन उस रूप की भावना किया करता है। देखे सुने हुए विषय को मन की भावनारूप में चिन्तन करना ही वृत्ति-बन्ध है। इसका अभिप्राय इस प्रकार समझ लेना चाहिए, जैसे हमने हृदय कमल में भगवान शिव के स्वरूप पर धारणा करना आरम्भ करें और कल्पना से उनके स्वरूप को हम हृदय में बैठा हुआ देखने लगें। यही हृदय-कमल की धारणा है। बार-बार कल्पना से भगवान शिव, श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्री विष्णु या अन्य किसी भी इष्टदेव के स्वरूप का हृदय कमल में चिन्तन करना यह हृतपुण्डराक में होने वाली धारणा है इसी प्रकार से मूर्ध्वा ज्योति, नासिका अग्र, जिह्वाग्र, नाभिचक्र आदि में धारणा की जाती है। धारणा करने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह फल को इच्छा को छोड़ करके कर्म को करता रहे। सृष्टि नियमों के अनुसार किसी भी काम में मनुष्य शीघ्र परिणाम को प्राप्त नहीं कर सकता। भगवान पतञ्जलिदेव का आदेश है—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमि:।

अर्थात् किसी भी अभ्यास को हम करना शुरू करें तो उसके परिणाम की प्रतीक्षा के लिए उसका वर्षों तक लगातार करते रहना बहुत आवश्यक है। यह नहीं कि हम एक-दो दिन करके ही उसके परिणाम पर नजर डालने लगें। काफी लम्बे समय तक उस अभ्यास को करना चाहिए और लगातार करते रहना चाहिए अर्थात् इस नियम में कोई विघ्न नहीं आने पावे। आज कर लिया कल फिर छूट गय, फिर दो चार रोज करके फिर कुछ समय के लिए छूट गया। इस प्रकार का अभ्यास सफलता के उच्चतम स्तर पर नहीं ले जा सकता। उसके साथ-साथ एक बात और आवश्यक है कि हम श्री गुरुदेव के वचन पर विश्वास करके उस अभ्यास को करें जिसमें हमारी श्रद्धा परिपूर्ण रूपेण हो, हमने किसी मन्त्र का जाप शुरु किया और उसमें हमारी आस्था न हुई तो उसका भी परिणाम जल्दी श्रेयस्कर नहीं हो सकता। वैसे शास्त्रीय नियम 'अकर्णात् कर्णम् श्रेय:'' के अनुसार न करने से कुछ करना ही अच्छा है, इस बात को विचार में रखते हुए जो कुछ भी किया जाय, कुछ न कुछ भले के लिए तो होता ही है, किन्तु यदि हम उसके उत्तम और अन्तिम निष्कर्ष को देखना चाहते हैं तो उपरोक्त तीनों नियमों का पालन करना हमारे लिए बहुत ही आवश्यक है। इसलिए धारणा को भी परिपक्व करने के लिये हमें कम से कम तीन साल तक एक विषय पर ही परिपक्व मन लगाना चाहिए। तीन साल तक यदि मन्दाधिकारी भी उपरोक्त सूत्र के अनुसार धारणा का अभ्यास करेगा तो उसका भी मनोबल अवश्य बढ़ेगा ही बढ़ेगा। धारणा के अभ्यास से मन में विचार करने की उच्च स्तर की योग्यता प्रकट हो जाती है और वह एकाग्रता की ओर चलने लगता है। भगवान् पतञ्जलि देव ने योग दर्शन में कहा है :-

धारणा सु योग्यता मनस:।

अर्थात् धारणा करने पर मनन की योग्यता बढ़ती है। मन में बल का विकास होता है और वह सब कुछ करने की ताकत वाला बन जाता है। जो व्यक्ति दो या तीन साल तक लगातार प्रात: व सायंकाल ३-३ घण्टे अपेन ध्येय विषय की धारणा करके उसको वृत्ति निरोध से एकाग्रित करना चाहता है उसको ऐसा अनवरत अभ्यास करने पर अवश्य ही वह विषय उसके मन में प्रगट होने लगता है। मन को एकाग्र करने के कुछ इस प्रकार के नियम हैं कि जिनके पालन करने से हर मनुष्य का मन एकाग्र हो ही जाता है। यदि वह किसी अच्छे कण्ट्रोलर अर्थात् अपने नियन्त्रक गुरुदेव की आज्ञा में बंधकर अपने अभ्यास को नियमानुसार करता है तो इस प्रकार से लगातार किया हुआ यह धारणा-अभ्यास स्वत: ही ध्यान के रूप में बदल जाया करता है।

धारणा का सतत और सम्यक् अभ्यास मन को एकाग्रता की ओर ही उन्मुख नहीं करता किन्तु उसे शक्ति सम्पन्न भी बना देता है। मन के शक्ति सम्पन्न होने से ही साधक समाधि-लाभ को पात्रता प्राप्त कर पाता है। समाधि लाभ का अर्थ होता है परमात्म-तत्व का साक्षात्कार करना। शास्त्रीय सूचित है—

नायमात्वा बलहीनेन लक्ष्यो:।

अर्थात् बलहीन विशेष रूप से मन के दुर्बल पुरुष की आत्म-तत्व या परमात्म तत्व की प्राप्ति नहीं होती। वेदों में इसीलिए मन को शक्ति सम्पन्न और शिव-संकल्पमय बनाने के लिए अनेक प्रकार से प्रार्थना की गई है। लोक में यह कहावत प्रचलित है– मन के हारे हार है मन के जीते जीत। जिसका मन मर जाता है उसका जीवन भी प्राय: मर जाता है। विश्व विख्यात महाभारत के युद्ध में अर्जुन को युद्ध-भूमि से पलायन करके— जाने के कुभाव का कारण उसका दुर्बल बना हुआ मन ही तो था जिसे भगवान श्रीकृष्ण ने गीतोपदेश देकर मानसिक दृष्टि से शक्ति सम्पन्न बनाकर श्रेय का भागी बनाया था। अत: मनको शक्तिशाली बनाना लौकिक और पारलौकिक लाभ लेने के अति आवश्यक है। धारणा का निरन्तर दीर्घकालीन अभ्यास ही मन की इस शक्ति का अजस्र स्रोत्र हो सकता है। अत: प्रत्येक साधक को धारणा के महत्व को स्वीकार करते हुए उसके अभ्यास को निरन्तर बढ़ाना चाहिए।

योगियों का सिद्ध रस

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योग-साधना का उद्देश्य होता है आत्म-तत्व को जानकर ब्रह्म-तत्व पा लेना। इसी ब्रह्म-तत्व को शुद्ध परमात्म तत्व भी कहा गया है। महर्षि पतञ्जलि ने इसी परमात्म तत्व को 'पुरुष विशेष ईश्वर:' कहकर इंगित किया है। साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि क्लेश, कर्म, विपाकाशय से जिसका दूर का भी सम्बन्ध नहीं है, वही पुरुष ईश्वर अथवा परमात्म तत्व कहा जाता है। क्लेश, कर्म, विपरि आशय से तो जीवात्मा का चिरकालिक सम्बन्ध चला आ रहा है– परमात्म-तत्व का इनसे कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहा न कभी आगे रहना सम्भव है। समाधि पाद के २५ वें सूत्र में इस पुरुष विशेष की एक और परिभाषा करते हुए सूत्रकार ने कहा है––

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।

अर्थात् उस ईश्वर— पुरुष विशेष में– सर्वज्ञता का बीज यानी ज्ञान निरतिशय है। उससे बढ़कर अथवा उसके समान सर्वज्ञता और किसी में भी नहीं है इसीलिए उसे अद्वितीय और अनुपम भी कहा गया है। श्रुति में भी

हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्ता।
य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति।।

अर्थात् मन से बारम्बार चिन्तन करके ध्यान में लाया हुआ वह परम पुरुष मरमात्मा निर्मल और निश्चल हृदय से विशुद्ध बुद्धि के द्वारा देखने में आता है। जो इसको जानते हैं अमृत स्वरूप हो जाते हैं, यानी वे परमानन्द रूपी रस का पान करके कृतार्थ हो जाते हैं। उन्हें फिर जन्म-मरण के पाशों में आना नहीं पड़ता। लेकिन यह स्थिति आती तब है जब साधक की साधना सतत् और निरन्तर गतिशील रहकर अपनी चरमावस्था पर पहुँच जाती है। योगदर्शन के समाधि पाद के सूत्र १४– **'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारा सेवितो दृढ़भूमि:'** की स्थिति को पा लेता है। सूत्र के अनुसार आदर श्रद्धा और प्रेम के साथ बिना किसी व्यवधान और अवरोध के साधक जब साधना की यह दृढ़भूमि प्राप्त कर लेता है तब ही वह परम-तत्व परमात्मा रूपी आनन्द रस का पान करने का सुअवसर पा सकता है। उपासना-योग, भक्ति योग अथवा ईश्वर प्रणिधान द्वारा भी साधक तब तक अपने लक्ष्य को नहीं प्राप्त कर पाता जब तक कि वह साधना की दृढ़भूमि की दृढ़ भूमि पर पहुँच गया है इसका परिचय उसके आचरण और व्यवहार से हर समय मिलता रहता है। भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने श्रीमद्भगवद् गीता में आनन्द रूपी अमृत का पान कर सकने वाले भक्ति-योग के साधक के लक्षण बताते हुए कहा है—

सम: शत्रौ च मित्रे च
तथा मानापमानयो:।
शीतोष्णसुखदु:खेषु
सम: सङ्गविवर्जित:।।
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी
संतुष्टो येत केनचित्।
अनिकेत: स्थिरमतिर्भक्ति-
मान्मे प्रियो नर:।।
ये तु धर्म्यामृतमिदं
यथोक्त पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा
भक्तास्तेऽतीव मे प्रिया:।।

अर्थात् जो शत्रु मित्र में और मान अपमान में, सत्कार और तिरस्कार में समान रहता है एवं शीत उष्ण और सुख-दु:ख में भी समभाव वाला है, तथा सर्वत्र आसक्ति से रहित हो चुका है। निन्दा और स्तुति जिसके लिए बराबर हो गई हैं जो मुनि मननशील संयतवाक् है, अर्थात् वाणी जिसके वश में है, जो सब प्रकार से सन्तुष्ट है, समस्त तृष्णा से जो निवृत्त हुआ है जो स्थान रहित, अर्थात् किसी स्थान से जिसे मोह नहीं है तथा जो स्थिर बुद्धि है और परमार्थ में जिसकी बुद्धि स्थिर हो चुकी है ऐसा उपासक साधक मुझे प्रिय है। क्योंकि ऐसे भक्त या साधक ही धर्मामृत पान के अधिकारी होते हैं।

जगदात्मा भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने कुछ इसी प्रकार की बात पन्द्रहवें अध्याय के श्लोक संख्या ५ में ज्ञाननिष्ठ साधक के सम्बन्ध में कही है। वे कहते हैं—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामा:।
द्वन्द्वैर्विमुक्ता सुखदु:खसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढ़ा: पदमव्ययं तत्।।

यानी जो मान-मोह से मुक्त हैं, जिनका अभिमान और अज्ञान नष्ट हो चुका है जो मान मोह से रहित हैं, जिन्होंने आसक्ति रूप दोष को जीत लिया है। जो नित्य अध्यात्मिक विचार में रत रहते हैं, जो कामनाओं से रहित हैं जो द्वन्द्वों से छूटे हुए हैं, ऐसे साधक उस परम-तत्व के परमानन्द रूप पद को प्राप्त कर पाने के अधिकारी होते हैं।

यही वह तेजोमय परम पद है जहां जाकर साधक की फिर जन्म मरण के बन्धन में नहीं लौटना पड़ता। यही परम-तत्व अव्यय और अक्षर कहलाता है। वेदों में इसी तत्व को आप: ज्योति: रस: और अमृत कहकर इंगित किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् के ऋषि कहते हैं— 'रसो वै स:' अर्थात् वह परम तत्व रस रूप है 'रस' शब्द का अर्थ है आनन्द। य: रसयति आनन्दयति स रस:। जो आनंदित करता है उसे रस कहते हैं। जगत में जो कुछ रस है वह परमात्मा अथवा ब्रह्म का ही रस है इसीलिए उसे रसधन या रसों का महासमुद्र भी कहा गया है। योगीजन समाधि में इसी रस अथवा आनन्द का पान किया करते हैं— यह ब्रह्मानन्द अथवा ब्रह्म रस ही उनका सिद्ध रस अथवा अमृत होता है। इस सिद्ध-रस पान से परितुष्ट होकर ही वे सिद्धयोगी की पदवी पा जाया करते हैं। वसुन्धरा को इसी रस से परिपूर्ण होने के कारण रसा कहकर पुकारा गया है, जो वनस्पति आदि के माध्यम से समस्त प्राणि-जगत को सरस बनाती है। संसार में जितनी भी सरसता दिखलाई पड़ती है वह सबका उद्गम वह रसघन परब्रह्म परमात्मा हो है। पर, इस तथ्य को कितने जलन जान पाते हैं कि यदि जीवन को सरस और सुखद बनाना है तो हमें स्वयं इसी ब्रह्मरस अथवा सिद्धरस से अपने को परितृप्त करना होगा। बिना अपनी तृप्ति अथवा तुष्टि किये तुम औरों को परितृप्त कैसे कर सकेंगे। प्रभु का आदेश है कि तुम जीभरकर इस आनन्द रूपी महारस का स्वयं पान करके औरों को भी इसे पान करने के लिए प्रेरित करो। तुम्हारे मानवीय कर्त्तव्यों की शृंखला की यह भी एक कड़ी है कि तुम देवासुर-संग्राम की तरह इस रस-सागर में से सर-कलश को भरकर केवल अपने लिए ही ले जाने की कोशिश मत करो किन्तु लोकहित के लिए इसे सभी दिशाओं में प्रवाहित कर दो। सिद्धयोगियों की ऐसी ही परम्परा होती है। अपने लिए नहीं किन्तु लोक-कल्याण के लिए ही वे नर देह धारण करके पृथ्वीतल पर आते और अपने सहज धर्म के रूप में कर्त्तव्य पालन करके पुन: अपने निज लोक को लौट जाया करते हैं। हम सबके परम पूज्य योगयोगेश्वर महाप्रभुजी ऐसी ही दिव्यात्माओं से हैं, जिनके सम्बन्ध में योगिराज श्रीकृष्णचन्द्र के शब्दों में कहा जा सकता है-

ने मे पार्थारित कर्त्तव्यं
त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमंवाप्तव्यं-
वर्त एव च कर्माणि।।

अर्थात् हे पार्थ तीनों लोकों में मेरा कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है क्योंकि मुझे कोई भी अप्राप्त वस्तु प्राप्त नहीं करनी है तो भी में कर्मों में वर्तता हूँ।

सिद्धयोगियों का लक्षण भी यही है कि वे पीड़ित और दु:खी जनों की कल्याण कामना के लिए कालक्रमानुसार इस भूतल पर विमुक्त और विदेह होते हुए भी नर देह धारण करके अवतरित होते रहते हैं। हमारे देश में महान अवतारों के अवतरण का उद्देश्य भी तो यही था। महान आत्माओं, सिद्धयोगियों अथवा श्रेष्ठ पुरुषों का आचरण ही तो लोक के लिए आदर्श बना करता है। महाप्रभुजी का करुणा से ओत-प्रोत जीवन योग मार्ग के सभी साधकों के लिए आदर्श और अनुकरणीय जीवन के रूप में हम सबके सामने है। उनकी शिक्षा और आदर्शों को आत्म-सात करके ही सतत् योग साधना, त्याग एवं वैराग्य की भावना को संबल बनाकर ही तुम इस भूतल के सार उस सिद्ध रस के पान करने के अधिकारी बन सकते हो जिसका अपर नाम आनंद और अमृत है। बिना इस आनन्द के न कोई आनन्दित रह सकता है न औरों को आनंदित करके अपने मानवोचित कर्त्तव्य का पालन कर सकता है। अत: भगवान कृष्ण के इन शब्दों को सदा याद रखो—

रसोहमप्सु कौन्तेय,
प्रमास्मि शशि सूर्ययो।

परमप्रभु रस रूप है ज्योतियों की ज्योति है, अत: तुम इसी रस और ज्योति से अपने आत्म-तत्व को परितृप्त और जाग्रत एवं जगमग करने की सहज चेष्टा करते रहो— तुम्हारी साधना का यही लक्ष्य होना चाहिए।

मृत्यु का ज्ञान कैसे?

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

संसार–चक्र चल रहा है, अनेक जन्म लेते हैं व अनेक बिछुड़ जाते हैं, कौन आया, कौन गया, क्यों गया यह कोई भी जान नहीं पाता। न ही किसी को यह चिन्ता ही होता कि आज क्या हो रहा है व कल क्या होगा? वस्तुत: संसार में जन्म लेने वाला हर एक प्राणी निर्भय व उन्मत्त होकर चल रहा है। उसको अपने भविष्य का कुछ भी ज्ञान नहीं कि कल क्या समय आ रहा है। श्री भर्तृहरि जी महाराज ने उरोक्त भावों को व्यक्त करते हुए एक श्लोक की रचना की—

आदित्यस्य गतागतैरहरह:
संक्षीयते जीवितम्।
व्यापारै बहु कार्यभारगुरुभि:
कालो न विज्ञायते।।
दृष्ट्वा जन्म जरा विपत्ति–
मरणमं त्रासत्र्यनोत्यहाते।
पीत्वा मोहमयीं प्रमाद–
मदिरमुन्मत्त भूतं जगत्।।

अर्थात् सूर्य के रोज निकलने– छुपने से आयु का एक–एक दिन घट रहा है। धन्धे इतने अधिक हैं कि प्रात: से सायं तक समय का ज्ञान भी नहीं हो पाता। प्रतिदिन मनुष्य हजारों के जन्म और मौत की बातें सुनता है किन्तु मन में कोई भय उत्पन्न नहीं होता। एक प्रकार से मोहमयी प्रमाद मदिरा को पीकर संसार उन्मत्त हो रहा है। मृत्यु हर जन्म लेने वाले प्राणी के शिर पर है– भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हुए स्वयं आज्ञा कर रहे हैं—

जातस्य हि ध्रवोमृत्यु ध्रुवं जन्म मृतस्य च। तस्मादपरिहर्यऽथे न त्वम् शोचितुमर्हसि।

अर्थात् जो जन्मा है उसकी मृत्यु भी अवश्य होगी और मर चुका है उसका जन्म भी निश्चित है। इसलिए जो बात बदली नहीं जा सकती उसकी चिन्ता करना व्यर्थ है।

किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी प्राणी कब संसार से विदा हो जाता है इसका ज्ञान किसी को भी नहीं हो पाता, क्षण–क्षण में सुन लेते हैं। अमुक व्यक्ति अभी तक ठीक था किन्तु आज वह संसार से विदा हो गया व काल का ग्रास बन गया। बाद में सान्त्वना देने वाले सज्जन, मित्र प्यारे कुटुम्बी लोग उसके सम्पर्क के लोगों को समझाते हैं कि भाई सन्तोष करो अब इसका यह समय ही था, होनहार को कौन टाल सकता है, काल दुरतिक्रम है किन्तु कहने व समझाने वालों को भी यह ज्ञान नहीं कि इसकी मृत्यु क्यों हुई? क्या इसका यह समय निश्चित था या बिना की समय के इसका यह अपरान्त काल हो गया है? इन ही बातों के ज्ञान के हेतु भगवान पतञ्जलि देव ने अपने योगदर्शन के विभूतिपाद के सूत्र २२ में स्पष्ट निर्देशन किया है कि मनुष्य को अपनी मृत्यु का ज्ञान कैसे हो, उसके दो उपाय है। यथा—

सोपक्रमम् निरुपक्रमम् च कर्म तत्–संयमात् अपरान्तज्ञानम् अरिष्टेभ्यो वा।

अर्थात् मनुष्य के भोगे जाने वाले कर्म दो प्रकार के होते हैं, एक सोपक्रम कर्म वह कहलाते हैं जो अपना भोग अत्यन्त वेग से दे रहे हैं व दूसरे निरुपक्रम कर्म वह कहलाते हैं जो धीरे–धीरे भोगे जा रहे हैं। सोपक्रम कर्म अपने भोग बहुत जल्दी समाप्त कर देंगे व प्रारब्ध कर्म विपाक के समाप्त होते ही प्राणी का अपरान्त काल हो जायेगा व दूसरे वह कर्म जो निरुपक्रम की गति से शनै:–शनै: अपने भोग मन्द गति से भुगता रहे हैं वह कर्म समूह लम्बे समय में निबट पायेगा– जैसे एक कहीं का यात्री यदि अपनी यात्रा हवाई जहाज आदि से करता है तो वह उस यात्रा को घण्टों में तय कर लेगा और यदि वही यात्रा पैदल तय करता है तो वर्षों का समय लग जायेगा। बस यही सोपक्रम एवं निरुपक्रम कर्मो का भेद है। अब किस प्रकार के कर्मो का भोग चल रहा है जब संयम सिद्ध योगी जानना चाहता है तो अपने संयम अर्थात् सिद्ध समाधि के बल से तत्काल जान लेगा या दूसरा तरीका आम सांसारिक साधारण ज्ञान वाले मनुष्यों के लिये हैं।

अरिष्टों से काल का ज्ञान—

अरिष्ट शब्द का अर्थ है लक्षण, अर्थात् मृत्यु के समय के लक्षणों से प्राय: सभी जान जाते हैं कि अब इसका समय आ चुका है, अब यह यात्री अपनी आगे की यात्रा करना ही चाहता है। अरिष्ट तीन प्रकार के होते हैं—

पहला आध्यात्मिक, दूसरा आधिभौतिक एवं तीसरा आधिदैविक। उसमें आध्यात्मिक अरिष्टों में कान बन्द करने पर हर समय जो अन्तरनाद प्रतिक्षण सुनाई देता रहता है वह न सुनाई दे या आंखों के कोनों के दबाने से ज्योति कला न दिखाई दे तो समझ लेना चाहिए कि

मृत्युकाल बिल्कुल निकट है दूसरा आधिभौतिक-जिसमें अकस्मात् यमदूत दिखलाई दें या अपने पूर्वज जो गत हो चुके हों वे अकस्मात् दिखलाई देने लगें। इसी प्रकार आधिदैविक देव-लोक के सिद्धों का अकस्मात् दीखना। यह सब अरिष्ट मृत्युकाल में सामने आने लगते हैं। इसके अतिरिक्त तत्काल प्रकृति का बदल जाना भी मृत्यु सूचक चिह्न है। एक आदमी जो अत्यन्त कंजूस है वह यकायक बहुत उदार हो जाय- कई एक व्यक्तियों के स्वभाव में मृत्यु समय महान परिवर्तन हुआ दिखलाई देता है। कइयों की आकृतियों में भी परिवर्तन दिखाई देने लगता है। भावी योनियों के चिह्न मृत्युकाल में प्रगट होने लगते हैं। पढ़ो इस सूत्र पर महर्षि व्यास देव जी का भाष्य—

तत्रायुर्विपाकं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च। तत्र यथार्द्रवस्त्रं वितानितं लघीयसा कालेन शुष्येत् तथा सोपक्रमम्। यथा च तदेव सम्पिण्डितम्। चिरेण संशुष्येत् एवन्निरुपक्रमम्। यथा वाग्निः शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन समन्ततो युक्तः क्षेषीयसा कालेन दहेत्तथा सोपक्रमम्। यथा वा स एवाग्निस्तृणराशौ क्रम-शाऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत्तथा निरुपक्रमम्। तथैकमविकमा-युष्करं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च। तत्संयमारपरान्तस्य प्रायणस्य ज्ञानमरिष्टेभ्यो वेति। त्रिविधंमरिष्ट माध्यात्मिकम-ाधिदैविकं चेति तत्राध्यात्मिकं घोषं स्वदेहे पिहितकर्णो न श्रृणोति ज्योतिर्वा नेत्रेऽवष्टब्धे न पश्यति। तथाधि दैविकं स्वर्गमकस्मात् सिद्धान्वा पश्यति विपरातं वा सर्वमिति अनेन वा जानात्यपरान्त मरणमुपस्थितमिति।

भाव वही सब उपरोक्त है। भगवान पतञ्जलि देव ने उन्हीं बातों को दूसरे-दूसरे उदाहरणों से समझाया गया है, जैसे वस्त्र का उदाहरण देकर, गीले वस्त्र को यदि हम तेज हवा तीव्र धूप में सुखा लेते हैं तो वह बहुत जल्दी सूख जाता है। इसी प्रकार सोपक्रम कर्म है- जो तीव्र संवेग के साथ तीव्रतम् साधनों से जिसका भुगतान चल रहा है वह कर्म जल्दी अपना फल देकर निबट जायेगा। इसी को सोपक्रम कर्म कहते हैं। इसके अतिरिक्त जैसा उसी गीले वस्त्र को हम पिण्डाकार गोल लपेट कर कहीं ठण्डी जगह में रख दें तो वही वस्त्र बहुत लम्बे समय में भूख पायेगा। इसी प्रकार निरुपक्रम कर्म है जो मन्द साधनों के द्वारा बहुत ही मन्द वेग से भोगे जा रहे हैं वे कर्म अपना भोग बहुत लम्बे समय में दे पायेंगे। इन कर्मों को निरुपक्रम कर्म कहा गया है। योगी अपने संयम के बल से इन दोनों प्रकार के कर्मों का साक्षात्कार करके समझ लेता है कि इनका भोग कितने समय तक समाप्त हो जायगा। इसके अतिरिक्त वहीं त्रिविध अरिष्टों के द्वारा (जिनका वर्णन पहिले कर चुके हैं।) सर्व साधारण को भी काल का ज्ञान हो जाता है सबसे उत्तम बात तो वही है जिसमें योगी अपने संयम के बल से काल ज्ञान को पा लेता है व उसको पुण्यों की कमाई से बढ़ा लेता है।

एक योगाभ्यासी महात्मा —

सालवन जिला करनाल में एक गांव है, वहां लगभग ५० वर्ष पहिले एक महात्मा निवास करते थे उनका नाम गौरीशङ्कर था। दशाश्वमेघ तीर्थ पर निवास करते थे। सालवन गांव के विषय में यह प्रख्यात है कि महाभारत की लड़ाई के समय यह स्थान महाराजा सालीवाहन का युद्ध विश्राम क्षेत्र (अर्थात् यहां पर राजा शालीवाहन का कैम्प था) इसीलिये इस स्थान का विकृत नाम शालिवाहन की अपेक्षा सालवन रह गया, वस्तु, इस गाँव में दशाश्वमेध तीर्थ पर महात्मा गौरीशङ्कर निवास करते थे, उन महात्मा के दर्शन लेखक ने स्वयं प्राप्त किये थे, श्री महात्मा गौरीशङ्कर जी ने स्वयं अपने ही मुख से बताया था कि उज्जैन में उनको सद्गुरुदेव योग-योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी के दर्शन कृपा लाभ की थी। महात्मा श्री गौरीशङ्कर जो अपनी मृत्यु का ज्ञान पहिले से ही हो गया था व उन्होंने अपने शिष्यों से बतला दिया था कि मेरी मृत्यु अमुक दिन इतने बजकर इतने मिनट तक हो जायगी, वैसा ही हुआ भी, श्री महात्मा गौरीशङ्कर जी अपनी मृत्यु से दो दिन पहिले ही अपने दश कर्म व त्रयोदश संस्कार आदि स्वयं अपने हाथों से करा दिये व अपने शिष्यों से अपने शरीर जलाने के लिये स्थान बता दिया था। मृत्यु के दिन पहिले से ही अपने सत्संगियों को बुला लिया व उन सबके सन्मुख अपने नश्वर देह-परित्याग किया। मनुष्य शरीर अत्यन्त दुर्लभ है, अतः प्रत्येक व्यक्ति को चाहिये की इस सदुपयोग को करे व कम से कम अपरान्त ज्ञान प्राप्त कर अधिकाधिक तप, यज्ञ, दान आदि उत्कृष्ट कर्म करें ताकि इस मौत के फन्द से छूटकर नित्यत्व की प्राप्ति ओर बार-बार के जन्म एवं मरण के चक्र से बच जाय।

नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानां।
एको बहुनां योविदधाति कामान्।।
तमात्म थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां।
शान्ति शाश्वती नेतरेषाम्।।

अर्थात् उस नित्यों के नित्य व चेतनों के चेतन (जो एक होता हुआ भी बहुतों की कामनापूर्ण करता है) उस नित्य चेतन परमात्मा को योगी अपने अन्दर प्रत्यक्ष कर लेते हैं। वही शाश्वत शान्ति को प्राप्त करते हैं। जिसको प्राप्त करके मृत्यु के पाशों से प्राणी छूट जाता है।

सिद्धियाँ कैसे ?

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

आज के युग में कोई ऐसा प्राणी नहीं दिखलाई देता कि जिसके मन में सिद्धि को कामना न हो, यद्यपि भगवान पतञ्जलि देव जी महाराज ने अपने मुखारविन्द से यह स्पष्ट कह दिया कि—

ते समाधातुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।

अर्थात् प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आदि व अन्य सभी प्रकार की सिद्धियाँ समाधि स्थिति में विघ्न-कारक अर्थात् अन्तराय भूत हैं किन्तु फिर भी बड़े-बड़े वेदान्ती एवं पर-वैराग्य के अभ्यासी भी जो हर समय ब्रह्म-सत्यं जगन्मिथ्यात्व का पाठ पल पल में पढ़ते रहते हैं वे सभी सिद्धियों के परम इच्छुक एवं उनकी प्राप्ति हेतु घोरतम प्रयत्नशील दिखलाई देते हैं। अयामात्मा ब्रह्म, जीवों ब्रह्मैव केवलम् के मनन को छोड़कर अपने मान प्रतिष्ठा को बढ़ाने तथा शक्ति प्राप्त करने के लिये छोटी से छोटी साधनायें वे करते रहते हैं। यह तो ब्रह्म जिज्ञासुओं की बात रही। इनके अतिरिक्त संसार के वे प्राणी भी हैं जो नितान्त तमसावृत हैं, एवं जिनकी दृष्टि में लोक ही लोक है परलोक नाम की किसी भी सत्ता को मानते ही नहीं, जिनका सिद्धान्त है लोक बनाना, अर्थात् कुछ भी क्यों न करना पड़े पर उनका यह लोक बन जाय। दूसरों का हित या अहित इसकी इनको कोई परवाह नहीं, इनका सिद्धान्त रहता है—

इदमद्य मया लब्धं
मिम्प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे
भविष्यति पुनर्धनम्।।
असौ मया हतः शत्रु
हनिष्टो जापरानपि।
ईश्वरोऽहं भोगी,
सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।।
आढ्योऽभिजनवानस्मि
कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।

अर्थात् उनके मन में प्रतिक्षण यही भाव रहा करते हैं कि इतना धन मैंने प्राप्त कर लिया और जो अभी नहीं मिला उसको भी जल्दी प्राप्त कर लूँगा। अमुक्त शत्रु को मैंने मार दिया शेष में जो और रहे हैं उनको भी मार डालूँगा। मैं ही सिद्ध एवं सब प्रकार से पूज्य हूँ और कोई मेरे बराबर हो ही कैसे सकता है आदि आदि।

ऐसे घोर पाप-कर्मों में रत रहने वाले प्राणी भी सिद्धि प्राप्त करने के लिए क्या नहीं करते किन्तु सिद्धि क्या है व किनको मिल सकती है यह एक विचारणीय विषय है। सिद्धि प्राप्त करने का अधिकारी हर एक व्यक्ति नहीं हो सकता। हमारे आचार्यों ने अधिकार भेद को माना है, और वह नितान्त सत्य भी है। अधिकार शब्द का अर्थ ही कार्यारम्भण सामर्थ्य है, अर्थात् जो-जो जिस-जिस काम के करने की ताकत रखता हो वही उसका अधिकारी है। एक दो वर्ष के बच्चे पर दश सेर वजन नहीं रखा जा सकता, वह तो अभी झुनझुने से खेलने का ही अधिकारी है न कि वजन उठाने का। यही बात शिक्षार्थी लोगों के लिए भी है जिस छात्र की बुद्धि वृत्ति जिस विषय को पकड़ती हो वह उसी शिक्षा का अधिकारी है। सिद्धिमार्ग में प्रवेश करने के इच्छुकों के लिए भी बिल्कुल यही सिद्धान्त लागू है। योगाचार्य भगवान पतञ्जलि देव स्वयं आदेश करते हैं—

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः।

(योग द. समाधिपाद सूत्र २२)

अर्थात् अधिकारी भेद स मनुष्य स्थिति को पा सकता है। कोई मृदु अधिकारी है व कोई मध्य अधिकारी है व कोई उत्तम अधिकारी है। वे ही लोग अपनी अपनी अधिकार योग्यता के अनुसार सिद्धि भाजन हो सकते हैं कितने, ही व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अधिकारी तो हैं किन्तु उनको साधन उपलब्ध नहीं है, कदाचित साधन भी उपलब्ध हो जाय तो योग्य शिक्षक व सहायक नहीं है, यही सब बातें हैं जिनके कारण साधक का पूरा उत्थान नहीं हो पाता।

सिद्धि प्राप्त करने का उत्तम अधिकारी कौन ? पढ़िये –

महावीर्यान्वितोत्साही
मनोज्ञ शौर्यवानपि।
शास्त्रज्ञोऽभ्यासशीलश्च
निर्मोहश्च निराकुलः।।
नवयौवनसम्पन्नो
मिताहारी जितेन्द्रियः।
निर्भयश्च शुचिर्दक्षो
दाता सर्व जनाश्रयः।।

अधिकारी स्थिरो धीमान,

यथेच्छावस्थित: क्षमी।

सुशीलो धर्मचारी च

गुप्तचेष्ट: प्रियम्वद:।।

शास्त्रविश्वास सम्पन्नो

देवता गुरुपूजक:।

जनसङ्गविरक्तश्च,

महाव्याधि विवरजित:।।

अधिमात्रो ज्ञय: सर्व

योगस्य साधक:।

त्रिभिर्स्श्चतरै: सिद्धि-

स्तस्य नात्र संशय:।।

सर्व योगाधिकरी स

नात्र कार्याविचारणा।

अर्थात् जो महावीर्यवान, परमोत्साही मन की बात जानने वाला, शूरवीर शास्त्र वेत्ता, एवं अभ्यासशील संसार के मोहमाया से रहित, एवं जिनके मन में किसी भी प्रकार की उद्विग्नता न हो, नवयुवक, मिताहारी, जितेन्द्रिय एवं निर्भय हो सर्व प्राणियों को अवलम्ब देने वाला अधिकारी स्थिर चित्त— अपने लक्ष्य पर अटल एवं क्षमावान, सुशील धर्मात्मा अपने आपको छुपाकर रखने वाला अर्थात् अपनी ताकत को गुप्त रखने वाला व प्यारा बोलने वाला शास्त्र विश्वास सम्पन्न, देवता व गुरुदेव का पूजक सङ्ग रहित एवं पूर्ण विरक्त इसके साथ किसी भी प्रकार की कोई विभाति न हो, ऐसा साधक उत्तमोत्तम अधिकारी है वह सभी प्रकार की साधना कर सकता है— ऐसे साधक को तीन वर्ष में ही सिद्धि लाभ हो जाता है। इसमें कोई भी विचारने की बात नहीं। ऐसा साधक पूर्ण अधिकारी व सिद्धि भाजन है। हर साधक को उपरोक्त लक्षण अपने आप में मिला लेने चाहिये। यदि ये लक्षण मिलते हैं तो वह अवश्य सिद्धि भोजन है।

सिद्धि क्या ?

सिद्धि शक्ति का ही नाम है। जन्म-ग्रहण करने पर व्यक्ति अपनी सहजा प्रकृति के अनुसार जिस-जिस गुण कर्म-स्वभाव वाला होता है वह उसके अपने स्वाभाविक गुण-कर्म एवं स्वभाव की उत्कृष्टता है किन्तु किसी भी निमित्त को माध्यम बनाकर जो-जो विशेष प्रकार के परिणाम पैदा होते हैं, वही उसकी ताकत है, उसी का नाम सिद्धि है।

सिद्धियों के प्रकार

भगवान पतञ्जलि देव जी महाराज ने अपने योगदर्शन कैवल्य पाद के प्रारम्भ में सिद्धियों के प्रकार इस प्रकार बताये हैं—

जन्मौषधिमन्त्रतप: समाधिजा: सिद्धय:।

अर्थात् सिद्धियाँ जन्म, औषधि, मन्त्र तप, एवं समाधि से होती हैं। इस सूत्र पर श्री व्यासदेव जी का भाष्य पढ़िये— निम्नांकित पंक्तियाँ—

देहान्तरिता जन्मनासिद्धि:, औषधिभिरसुरभवनेषु रसायनेत्येवभादि, मन्त्रैराकाशगमनमणिमादिलाभ:। तपसा संकल्प सिद्धि: कामरूपो यत्र तत्र कामज इत्येवमादि:। समाधिजा: सिद्धयो व्याख्याता:।

अर्थात् देहान्तरिता सिद्धि प्राणी मात्र को शरीर धारण करने मात्र से ही प्राप्त होती है जैसे पक्षियों का आकाश में उड़ना, मछली का जल में प्राण धारण कर रहना, इसी प्रकार जो-जो प्राणी जिस-जिस जाति में जन्म लेता है उसको उसी योनि के अनुसार स्वाभाविक शक्ति ईश्वरीय संविधान से मिलती हैं। कदाचित विशेष प्रकार के पुण्य कर्मों के फलस्वरूप कोई व्यक्ति देवलोक में जन्म धारण करता है तो उसको देव शरीरों में होने वाली ताकतें स्वत: ही उपलब्ध हो जाती हैं, इसमें उसको कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। इसके अतिरिक्त कई मनुष्यों में भी जन्मजात शक्ति वैलक्षण्य देखने में आता है। भगवान कपिलदेव एवं आटव्य, जैगीषव्य, आदि-आदि तो जन्म सिद्ध थे ही किन्तु उन महानुभावों के अतिरिक्त भी ऐसे व्यक्ति भूमण्डल पर जन्म लेते हैं जिनको जन्म लेने मात्र से ही कितनी ही विलक्षण शक्तियां प्राप्त रहती हैं व अपनी पूर्वजन्म की स्मृति भी पूरी कायम रहती हैं, उसमें उनका पिछले देह के कर्म विशेष कारण रहते हैं उनका पूर्वजन्म में योगाभ्यास, तप, ब्रह्मचर्य आदि इस जन्म की विलक्षणता का कारण बनता है। हमें अपने योग प्रचार के क्षेत्रों में कई व्यक्ति इस प्रकार के मिले हैं जिनको पूर्वजन्म की स्मृतियाँ तो थी ही उसके अतिरिक्त वे किस प्रकार योगाभ्यास करते थे व क्या मन्त्र जाप व स्वाध्याय करते थे वह भी ज्यों का त्यों याद था यह भी एक प्रकार से देहान्तरिता सिद्धि ही है। श्री राजऋषि भोजदेव ने इसी सूत्र के भाष्य में उस बात को देहान्तरिता सिद्धि के रूप में स्वीकार किया है।

श्री राजर्षि भोज का भाष्य—

काश्चन जन्मनिमित्ता एवं सिद्धय: यथा पक्ष्यादि नामाकाशगमनादय: यथा वा कपिल महर्षि प्रभृतानां जन्म समनान्तरेवोपजायमाना ज्ञानादय: सांद्धिका: गुण:।

अर्थात् पक्षी आदि का आकाश गमन व कपिलादि महर्षियों का जन्म मात्र से ही पिछले जन्मों के अनुभूत ज्ञान आदि का अनायास स्वत: ही प्रगट होना देहान्तरिता स्वरूप ही सांसिद्धिक गुण है। इसी सिद्धान्त को स्वयं भगवान पतञ्जलि जी महाराज सिद्धान्त रूप से बतला रहे हैं—

भवप्रत्यय: विदेह प्रकृति लयानाम्।

— समाधिपाद सूत्र १६

विदेहानां देवानां भवप्रत्यय:। तेहि स्वसंस्कारमात्रोपगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्त: स्वसंस्कारविपाकं तथा जतीयकमति बाह्यन्ति। तथा प्रकृतिलया: साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति यावन्नावर्ततेऽधिकार-वशाचित्तम्।

अर्थात् जो योगी देह धर्मों से ऊँचे उठ गये हैं या जो सवितर्क एवं निर्वितर्क आदि समाधियों के निरन्तर अभ्यास से अपने आपको प्रकृति लीन कर चुके हैं वे सभी अपने अपने तथा जातीय संस्कारों के उपभोग के बाद में कहीं भी जन्म लेंगे तो तभी उनको अपने पूर्वजन्मों में अनुभव की हुई स्थिति स्वत: ही प्राप्त हो जायगी, अर्थात् उस स्थिति को प्राप्त करने के लिए उनको कोई प्रयास नहीं करना पड़ेगा। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये केवल मात्र उनका जन्म लेना ही कारण है। इसीलिये (विदेहानां देवानां प्रकृतिलयानाश्च योगिनां भवप्रत्ययो भवति।)

इसी शङ्का की निवृत्ति के लिए अर्जुन ने भगवान कृष्ण से स्पष्ट कहकर पूछा था कि–

अयति श्रद्धयोपतो
योगाश्चलितमानस:।
अप्राप्य योग संसिद्धिं
कां गतिं कृष्ण गच्छति।
कच्चिन्नोभयविभ्रष्ट–
श्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो
विमूढ़ो ब्रह्मण: पथि।।
एतन्मे संशयं कृष्ण
छेत्तु मर्हस्यशेषत:।
त्वदन्य: संशयस्यास्य
छेत्ता न ह्युपद्यते।।

अर्थात् जो लोग योगाभ्यास करते हुए विचलित हो गये हैं उनकी क्या गति होगी– क्या वे लोग शरदकालीन छिन्नाभ्र की तरह नष्ट–भ्रष्ट तो नहीं हो जाते?

इसका उत्तर देते हुए भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि नहीं भाई ऐसी बात नहीं है।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानु–
षित्वा शाश्वती समा:।
शुचीनां श्रीमतां गेहे
योगभ्रष्टोऽभिजायते।।
अथवा योगिनामेव
कुले भवति घीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके
जन्म यदीदृशम्।।
तत्र तं बुद्धिसंयोगं
लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूय:
संसिद्धौ कुरुनन्दन।।
पूर्वाभ्यासेन तेनैव
ह्रीयते ह्यवसोऽपि स:।
जिज्ञासुरपि योगस्य
शब्दब्रह्मातिवर्तते।।
प्रयत्नाद्यतमानस्तु
योगीसंशुद्धकिल्विष:।।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो
याति परां गतिम्।।

– गीता ६/४१–४५

भगवान श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया कि हे अर्जुन ऐसी बात नहीं है ऐसे लोग पुण्यवानों के आम स्वर्गादि लोकों को पाकर बहुत लम्बे समय तक वहाँ रहकर पवित्र श्रीमानों के घर में या योगियों के घर में जन्म लेते हैं व वहाँ उनको वही पौर्वदेहिक बुद्धि संयोग मिल जाता है जिसको पाकर वे लोग पुन: पुन: पूर्ण प्रयत्न करते हैं व पर गति को पाया करते हैं। इस प्रकरण के अनुसार वही जन्म–जन्मार्जित पुण्य योगी को बुद्धि संयोग मिलाता है, वह अपने आपको कृतार्थ बनाता है। कमाई जन्म जनान्तर की है व प्रकाशित होती है, इस जन्म में यह एक प्रकार देहान्तरिता सिद्धि है। जन्म–जन्मान्तर के कर्मों के प्रभाव से जो विलक्षणता शरीर में जन्म से ही होती है, वही जन्मजा सिद्धि कहलाती है।

औषधि से सिद्धि—

औषधियों के विषयों में दिव्य औषधियों के लेख मिलते हैं व घटनायें भी घटित होती रहती हैं। भगवान व्यासदेव इसी सूत्र के भाष्य में असुर भवनों में रसायन आदि प्रयोग का उदाहरण लिखते हैं। असुर भवनों में किस प्रकार की किस रसायन का प्रयोग किया जाता था। यह तो प्रयोग कर्ता ही जानते होंगे किन्तु औषधियों के दिव्य प्रभाव आज भी छुपे नहीं हैं। मरनासन्न व्यक्ति को दिव्य औषधियों का प्रयोग करके वैद्य लोग जीवनदान देते हैं व कान्ति पैदा हो जाती है। सकल चिकित्सक डॉक्टर लोग अपने दिव्य गुणयुक्त इन्जेक्सन लगाकर रोगी की हालत को तत्काल बदल देते हैं। दिव्य औषधियों के द्वारा कायाकल्प करते हैं। कई महात्माओं ने बतलाई। साधारण रूप से जो लोग ब्राह्मी बूटी का नित्य सेवन करते हैं उनका बौद्धेय विकास विलक्षण हो जाता है।

मन्त्र जप से सिद्धि—

मन्त्र जप करने से विलक्षण शक्ति का उदय होना ही मन्त्र शक्ति का द्योतक है। हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है—

स्वाध्यायायोगमासीत्। योगात्स्वा- ध्यायमामनेत्। स्वाध्याययोगसम्पत्या: परमात्मा प्रकाशते।

अर्थात् साधक को चाहिए मन्त्र जप से योग को प्राप्त करे एवं योग को प्राप्त होकर मन्त्र का मनन करें। इस प्रकार निरन्तर जप एवं ध्यान करने से परमात्मा का प्रकाश होता है। भगवान पतञ्जलि देव आदेश करते हैं—

वाचक: प्रणव:, तज्जपस्तदर्थ भावनम्। तत: प्रत्यक चेतनाधिगमोऽप्यन्तराय भावश्च।

अर्थात् ईश्वर का बोधक नाम प्रणव है, साधक को चाहिये कि प्रणव का जप करे व प्रणवाभिधेय का ध्यान करें। उसके फलस्वरूप प्रत्यक् चेतन की प्राप्ति होगी व अन्तरायों का अभाव हो जायगा उपनिषद्—

स्वदेहमरणीं कृत्वा प्रणवं चोत्तराणीम् ध्याननिर्मन्थाना-भ्यासाहेवम् पश्येभिन्नगूढ़वत्।

अर्थात् साधक को चाहिये कि वह अपने शरीर को अरणी बनाये व प्रणव को उत्तरारणी बनाये। इस प्रकार निरन्तर ध्यान निरमन्थन- अर्थात् ध्यानाभ्यास के द्वारा छुपे हुए दबे ईश्वर का प्रकाश करलें। यह सब मन्त्र शक्ति का ही निर्देशन हैं। भगवान पतञ्जलि जी का एक और आदेश—

स्वाध्यायदिष्टदेवता सम्प्रयोग:।

व्यास भाष्य—

देवा ऋषय: सिद्धाश्च स्वाध्याय-शीलस्य दर्शनं गच्छन्ति कार्ये चास्य वर्तन्त इति।

अर्थात् देव, ऋषि व सिद्ध लोग स्वाध्याय-शील व्यक्ति के सामने जाते हैं व इसके काम कर दिया करते हैं। अर्थात् देवता, ऋषि, एवं सिद्धों की कृपा से साधक अभीष्ट सिद्धि को पा लेता है। कृपा का एक और सिद्धान्त—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेघया न बहुना श्रुतेन।
यमैवेषवृणुते तेन लभ्यस्तस्यैव
मात्मा विवृपुते तनुं स्वाम्।।

— कठोपनिषद्

अर्थात् यह आत्मा बहुत प्रवचन बाजी से व बुद्धि से या बहुत शास्त्र श्रवण से नहीं प्राप्त होता, प्रत्युत जिसका यह स्वयं वरण करता है उसी को प्राप्त होता है व प्राप्त होकर उसके शरीर को अपना ही बना लेता है। अर्थात् जिस पर कृपा करता है उसी को प्राप्त होता है। इससे शक्तिपात अर्थात् सिद्धयोग के ही सिद्धान्त का निदर्शन है।

मन्त्र के अन्दर तीन शक्तियां निहित रहती हैं— सद्गुरु शक्ति, इष्टदेव की शक्ति तथा सिद्धों की शक्ति— इस प्रकार मन्त्र जप करने वालों को ये तीनों शक्तियां बराबर मिलती रहती हैं। वे लोग अभीष्ट सिद्धि को जल्दी से जल्दी पा लेते हैं और इसी मन्त्र जप के प्रभाव से व इष्टानुग्रह से अन्य अणिमादिक ऐश्वर्य एवं आकाश गमन आदि की शक्ति भी स्वाध्याय के बल से योगी पा लेता है।

तप से सिद्धियाँ—

सिद्धि प्राप्त करने का चौथा प्रकार तप है, तप से कुछ भी अलभ्य नहीं रहता—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।

अर्थात् ब्रह्मचर्य और तप के द्वारा देवों ने मृत्यु को जीत लिया। भगवान पतञ्जलि देव आदेश करते हैं—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धि क्षयात्तपस:।

व्यास भाष्य—

निर्वर्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुध्या-वरण मलं तदावरण मलापगमात् कायसिद्धिरणिमाद्या तथेन्द्रियाणांसिद्धिर्दू-दर्शनदूराछृतपमाघेति।

अर्थात् तप के द्वारा अशुद्धि के नाश हो जाने पर योगी को कायिक सिद्धि अणिमा, महिमा आदि और ऐन्द्रिय सिद्धि, दूर दर्शन, दूर श्रवण आदि अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं। पुराणों में श्री विश्वामित्र आदि के उदाहरण हैं कि तप के द्वारा ही उन्होंने सकल शक्तियां प्राप्त की।

सिद्धि प्राप्ति का पांचवां उपाय समाधि से सिद्धियां—

योगदर्शन के विभूतिपाद में उन ही विभूतियों का वर्णन है जो समाधि से प्राप्त की जा सकती हैं। समाधि की उत्कृष्ट स्थिति को ही संयम कहते हैं। योगी जहाँ-जहाँ संयम करता है वहाँ-वहाँ की शक्ति को तत्काल पा जाता है किन्तु यह बहुत ही आवश्यकता है कि योगी का अभ्यास कृत संयम बल इतना बढ़ गया हो कि उसे चिन्तन मात्र से संयम सिद्ध रहकर वह योगदर्शन के विभूतिपाद में कही गई सभी शक्तियों का बिना किसी प्रयास के प्राप्त कर लेगा।

अत: योग मार्ग के पवित्र जिज्ञासुओं को अपना संयम बल ही बढ़ाना चाहिए। जिससे मनुष्य जीवन की सफलता हो व शक्तियों का खजाना पा जाय।

अभ्यास-योग

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

श्रीमद्भगवद्गीता में जगदात्मा योग-योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने जहाँ अर्जुन को निमित्त बनाकर समस्त मानव जगत को परम पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए विविध योग-साधनों का उल्लेख किया है वहाँ उन्होंने उन साधनों में अभ्यासयोग का भी वर्णन विशेष रूप से किया है। अध्याय १२ में वे स्पष्ट रूपेण निर्देश देते हैं कि—

ये तु सर्वाणि कर्माणि
मयि संन्यस्यमत्परा:।
अनन्यैनैव योगेन-
मां ध्यायन्त उपासते।।
तेषामहं समुद्धर्ता
मृत्यु संसार सागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ
मय्यावेशित चेतसाम्।।

-गीता १२/६-७

अर्थात् जो समस्त कर्मों को मुझ ईश्वर के समर्पण करके, मेरे परायण होकर केवल अनन्य योग से अर्थात् विश्व रूप परमात्मा को छोड़कर जिनका कोई अन्य अवलम्ब नहीं है ऐसे अनन्य भाव से जो चिन्तन, ध्यान और उपासना करते हैं।

उनका क्या होता है? यह स्पष्ट करते हुए भगवान कहते हैं— हे पार्थ! मुझ विश्वरूप परमेश्वर में ही जिन्होंने अपना चित्त समाहित कर दिया है उनका इस जरामरण रूप दु:ख सागर से मैं अविलम्ब उद्धार कर देता हूँ। इसलिए तुझे उचित है कि—

मय्येव मन आधत्स्व
मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव
अत ऊर्ध्व न संशय:।।

— गीता १२/८

अर्थात् तू मुझ ईश्वर में ही अपने संकल्प विकल्पात्मक मन और बुद्धि को स्थिर कर इससे तुझे मदात्मभाव अर्थात् ऊर्ध्व गति प्राप्त होगी।

इस उपरोक्त निर्देशन के पश्चात् ही भागवान मानव मन की कमजोरी समझते हुए अर्जुन को यह उपयोगी परामर्श भी देते हैं कि—

अथ चित्तं समाधातुं
न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यास योगेन ततो
मामिच्छाप्तुं धनंजय।।

अर्थात् हे अर्जुन यदि तू उपरोक्त प्रकार से मेरे में अपना मन और बुद्धि स्थापित नहीं कर सकता है तो तू अभ्यासयोग के द्वारा मुझे यानी विश्वरूप परमात्मा को प्राप्त करने की इच्छा कर।

आगे श्रीकृष्णचन्द्र ने अभ्यासयोग द्वारा भी परमानन्द रूप ब्रह्मानन्द की प्राप्ति न होने पर मदर्थ यानी लोक-कल्याणकारी कर्म करने अथवा वेद विहित निष्काम कर्मों को करने का परामर्श देते हुए सिद्धि प्राप्त कर लेने का सुगम तथा सहज उपाय दर्शाया है।

किन्तु इन अन्य उपायों की विवेचना न करते हुए यहाँ हम केवल अभ्यास योग की ही चर्चा करना आवश्यक समझते हैं।

अभ्यास और योग— इन दो शब्दों का मेल ही अभ्यास योग कहा गया है। अभ्यास अभि उपसर्ग तथा यास के संयोग से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है विशेष यानी भली प्रकार किया हुआ प्रयत्न अथवा प्रयास। मन वाणी अथवा शरीर द्वारा जिस विचार अथवा क्रिया को बार-बरा प्रयत्नपूर्वक सम्पादन किया जाता है उसी को अभ्यास के नाम से पुकारा जाता है। बार-बार दुहराने अथवा करने से जो भाव अथवा कर्म करने की विधि हमारे अन्तर मन में समा जाती है उसे ही हम सहज धर्म अथवा सहज भाव कहने लगते हैं। जो भाव हमारा अपना बन जाता है वही स्वभाव कहा जाता है इसी का अपर नाम सहज धर्म होता है। भगवान अर्जुन को उपर्युक्त श्लोकों द्वारा यही समझाने का प्रयत्न कर रहे हैं कि यदि तेरा चित्त उपासना अथवा ध्यान योग में स्थिर नहीं होता है तो तू अभ्यास योग का आश्रय ले। अभ्यास योग तुझे तेरे लक्ष्य तक पहुंचा देगा।

इससे पूर्व भी भगवान ने अर्जुन को अभ्यास योग का आश्रय लेने का परामर्श तब दिया है जब उसने मन को दुर्निग्रही और अति चञ्चल बताते हुए उसे वश में करने का उपाय पूछा है। अर्जुन ने मन की अपराजित शक्ति का रूप प्रस्तुत करते हुए भगवान से निवेदन किया—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण

प्रमाथि बलवद् दृढ़म्।

तस्याहं निग्रहं मन्ये

वायोरिव सुदुष्करम्।।

— गीता ६/३४

अर्थात् हे कृष्ण मन बड़ा चञ्चल प्रमथन स्वभाव वाला बड़ा दृढ़ और बलवान है। वायु के वेग को रोकने के समान उसको वश में करना बड़ा दुष्कर है। बताइये महाराज कैसे फिर इसे वश में लाया जाय?

भगवान ने बड़ी गम्भीरता और शालीनता के साथ जवाब दिया—

असंशयं महावाहो

मनो दुर्निग्रहं चलम्।

अभ्यासेन तु कौन्तेय

वैराग्येण च गृह्यते।

हे महाबाहो! निःसन्देह मन चञ्चल है और कठिनता से वश में होने वाला है, परन्तु हे कौन्तेय यह अभ्यास और वैराग्य से वश में हो जाता है।

अतः यह स्पष्ट है कि योग-साधना की सफलता अभ्यास पर बहुत कुछ निर्भर है। साधारणतया बिना अभ्यास के मनुष्य किसी भी कला अथवा विद्या में पारंगत नहीं हो सकता। भौतिक सुख सुविधाओं की प्राप्ति हो अथवा आध्यात्मिक ऐश्वर्यों की उपलब्धि, सभी के लिए उसे अभ्यास योग का आश्रय लेना होगा। विद्यार्थी जीवन को भी समुन्नत और सम्पन्न बनाने के लिए भी अभ्यास है। आचार्य शंकर ने 'अभ्यास योग' की व्याख्या करते हुए कहा है-

चित्तस्य एकस्मिन् आलम्बने पर्वतः समाहृत्य पुनः पुनः स्थापनम् अभ्यासः।

अर्थात् चित्त को सब ओर से खींचकर बारम्बार एक आलम्बन में लगाने का नाम अभ्यास है।

चूँकि हम यहाँ अभ्यास योग की व्याख्या कर रहे हैं अतः हमारा अभिप्राय भौतिक-साधनों के पुनः पुनः प्राप्त करने के प्रयत्नरूपी अभ्यास से नहीं अपितु योग ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों से है। इसी हेतु यौगिक क्षेत्र में पुनः पुनः किये जाने वाले प्रयत्नों को ही अभ्यास योग की संज्ञा दी जा सकती है। साधक द्वारा अपने चञ्चल मन को जो समाधि लाभ के लक्ष्य विषय से हटकर अन्य भौतिक सुख-सुविधाओं की ओर दौड़ जाता है, उसे उन-उन विषयों से खींचकर लक्ष्य विषय में लगा देने के लिए किये जाने वाले प्रयत्न का नाम ही अभ्यास अथवा अभ्यास योग है। भौतिक सुख सुविधाओं को हासिल करने के लिए जो प्रयत्न पुनः पुनः किये जाते हैं वे अभ्यास कहे जा सकते हैं, अभ्यास योग नहीं। श्रीमद्भगवद्गीता में जहाँ-जहाँ भी अभ्यास शब्द आया है उसका सम्बन्ध योग की दिशा में किये जाने वाले अभ्यास से ही है। इसलिए भगवान ने कहा है यदि तू परमानन्द अथवा परम पुरुष की प्राप्ति की इच्छा रखता है तो अनन्य भाव से मेरे में अपना मन स्थिर कर। मन स्थिर नहीं होता है तो मनको स्थिर अथवा वश में करने का अभ्यास कर, क्योंकि जिसका मन वश में नहीं होता ऐसे साधक को योग दुष्प्राप्य ही रहता है। प्राप्य यह उन्हीं साधकों को होता हैं जो योग-निष्ठ अथवा अभ्यास योगयुक्त होते हैं। श्रीमद्भगवद् गीता के अध्याय आठ में कृष्णने अभ्यसायोग की महिमा की ओर इंगित करते हुए पुनः अर्जुन से कहते हैं—

अभ्यास योग युक्तेन

चेतसा नान्यगामिना।

परमं पुरुषं दिव्यं

याति पार्थानुचिन्तयन्।।

(गीता ८/८)

अर्थात् हे पार्थ यह सृष्टि का नियम है कि परमेश्वर के ध्यान के अभ्यास रूप योग से युक्त, दूसरी ओर न जाने वाले चित्त से निरन्तर चिन्तन करता हुआ साधक परम प्रकाश रूप दिव्य पुरुष को अर्थात् परमेश्वर को ही प्राप्त होता है।

यौगिक क्षेत्र में 'अभ्यास योग' की सीमा में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान के निरन्तर अभ्यास को भी समाहित कर लिया गया है। योग के इन सभी अङ्गों की निरन्तर पालना ही अभ्यास-योग है, ऐसा अधिकारी विद्वानों का कथन है। अध्यात्म साधना के सभी साधकों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि मन वृत्तियों से शून्य कभी नहीं रहता। जल की निरन्तर प्रवाहित धारा के समान असंख्य वृत्तियां इसमें आती जाती रहती हैं। वृत्तियों के इस आवागमन को कोई रोक नहीं सकता। किन्तु इन्हें एक मार्ग में जाने के बजाय दूसरे मार्ग की ओर मोड़ा अवश्य जा सकता है। इसीलिए योग-दर्शनकार ने चित्त-वृत्तियों के निरोध को योग की परिभाषा दी है, यानी योग-साधक का पहला धर्म यह है कि मन अथवा चित्त की वृत्तियों के प्रवाह को जागतिक विषयों की ओर से मोड़कर इन्हें प्रभु-चिन्तन की ओर जोड़ दे। वृत्तियों का परमानन्दरूपी प्रभु के चिन्तन की ध्यान धारा से युक्त हो जाना ही **'योगश्चित्तवृत्ति निरोध'** सूत्र की सार्थकता का प्रथम सोपान है।

इन्द्रियों की विषय- भूमि बाहर है अतः स्वभावतः इन्द्रियां बहिर्मुखी होती हैं। योगदर्शन के समाधि पाद के सूत्र १२ वें में भी भगवान पतञ्जलि ने इनके निरोध के लिए इन्हें अन्तर्मुखी अथवा ब्रह्मोन्मुखी बनाने के लिए अभ्यास और वैराग्य के मार्ग का अवलम्बन लेने का परामर्श दिया है। यथा—

अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

अर्थात् अभ्यास और वैराग्य से उनका (वृत्तियों का) निरोध होता है।

इससे आगे तेरहवें सूत्र में—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।

कहकर अभ्यास के रूप को समझाया गया है। अर्थात् चित्त की स्थिति हेतु यत्न करना अभ्यास है। यह अभ्यास दीर्घकालीन निरन्तर श्रद्धा और आदर भाव के साथ किया जाना चाहिए। ऐसा होने पर ही उसे दृढ़भूमि यानी स्थिरता प्राप्त होती है जैसा कि सूत्र चौदहवें में भगवान पतञ्जलिदेव कहते हैं–

स तु दीर्घकाल नैरन्तर्यसत्कार– सेवितो दृढ़भूमिः।

ऐसा नहीं होना चाहिए कि किसी गुण अथवा वृत्ति को ग्रहण करने का अभ्यास एक दो दस दिन किया— कभी किया— कभी न किया। अपितु दीर्घकाल तक निरन्तर बिना किसी अन्तर या बाधा के करते ही रहना चाहिए। योग–साधना के अभ्यासी को– यह अत्यन्त आवश्यक है कि जिस साधन का भी वह अभ्यास करे वह श्रद्धा आदर और धीरज के साथ करें। ऐसा न करने पर दृढ़ भूमिका प्राप्त नहीं होती।

उपर्युक्त शास्त्रीय आदेशों और नियमों के आधार पर जो साधक अभ्यास योग में प्रवृत्त होते हैं वे निश्चित रूप से अपनी जीवन लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं।

अत: अभ्यास योग की महत्ता को समझाते हुए योग–धर्म के अनुनायी सभी साधक भाई–बहनों को अपनी आवश्यकता के अनुसार इसका अवलम्बन निरन्तर सत्कार–पूर्वक दीर्घकाल तक करते रहना चाहिए।

ऋतं च सत्यं च

उपनिषदों में ये दो शब्द साथ–साथ आते हैं सत्य और ऋत। इसमें सत्य का अर्थ सब जानते हैं। जो है सदा के लिए है, उसी को सत्य कहते हैं। सत् और सत्य एक ही है। सृष्टि चलाने में प्रकृति माता जिन नियमों के अनुसार काम करती है, उन सिद्धान्तों को सत्य कहते हैं। सत्य के पेट में ऋत आही जाता है।

सत्य तो बाह्य सृष्टि का या अन्त: सृष्टि का नियम, कानून अथवा धर्म है। सत्य शब्द स्थिति सूचक हो सकता है।

ऋत भी है तो सत्य ही, लेकिन यह शब्द ऋ धातु पर से आया है। ऋ का अर्थ है चलना। क्रिया होना अथवा करना। सत्य अगर स्थिति सूचक है तो 'ऋत' शब्द गति सूचक है। ऋत और सत्य मिल करके अन्तर बाह्य सृष्टि का सम्पूर्ण कानून बनता है।

इसलिए उपनिषद साहित्य में और बाद में भी सत्य और ऋत दो शब्द साथ–साथ आते हैं।

श्रेय मार्ग और प्रेय मार्ग क्या?

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

शास्त्रों में श्रेय और प्रेय मार्ग का विशदता से उल्लेख किया गया है आज हम सिद्धयोग के पाठकों को यही समझाने का प्रयत्न करेंगे कि श्रेय और प्रेय मार्ग क्या हैं और प्रेय की अपेक्षा श्रेय मार्ग कल्याणकारी क्यों है?

श्रेय का अर्थ है- कल्याण का साधन और प्रेय का अर्थ है— मन को प्रिय लगने वाला साधन। शास्त्रों में श्रेय और प्रेय ये दो ही सुख के साधन माने गये हैं। कठोपनिषद में इन दोनों का वर्णन करते हुए कहा गया है-

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेय-
स्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति।
हीयते अर्थाद्यऽप्रेयो वृणीते।।

अर्थात् कल्याण का साधन अलग ही है। इस प्रकार अपने-अपने ढ़ंग से मनुष्य को सुख पहुँचा सकने वाले ये दोनों भिन्न-भिन्न साधन मनुष्य को अपनी-अपनी ओर आकर्षित करते रहते हैं। उनमें से श्रेय को अपनाने वाले का तो सब प्रकार से कल्याण हो जाता है और जो प्रेय को अपनाता है वह परमार्थ से भ्रष्ट हो जाता है अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति रूप यथार्थ लाभ से वंचित रह जाता है। उपनिषद् में आगे पुनः यही बात कही गई है—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत-
स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति घोरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते,
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।।

श्रेय और प्रेय ये दोनों ही साधन मनुष्य के सामने आते हैं। बुद्धिमान मनुष्य उन दोनों के गुण दोषों पर भली भांति विचार करके दोनों को पृथक-पृथक समझने की चेष्टा करता है और वह प्रेम की अपेक्षा श्रेय अर्थात परमार्थ साधन को श्रेष्ठ समझकर उसे ही अपनाता है किन्तु मन्दबुद्धि मनुष्य लौकिक भोग-साधनों को ही सुख का हेतु मानकर उनकी प्रचुर मात्रा में प्राप्ति एवं वृद्धि की इच्छा से प्रेय को अपनाता है।

प्रेयमार्ग को प्रवृत्ति मार्ग भी कहा जाता है। क्योंकि जीव इन्द्रियों के रूप, रस, गन्ध, आदि विषयों से आकर्षित होकर स्वाभाविक ही उस ओर प्रवृत्त होता है। यह मार्ग जीव के बन्धन का मार्ग है। प्रेय के अनुगामी व्यक्ति स्त्री, पुत्र, धन, मान, पद, प्रतिष्ठा आदि इस लोक तथा परलोक के भोग साधनों को ही सुख का आधार समझकर अत्यन्त ममता और आसक्तिपूर्वक उनकी प्राप्ति के उपायों में लगे रहते हैं। रजोगुण की प्रबलता के कारण वे शास्त्रों की अवहेलना करते हुए काम्य और निषिद्ध कर्मों में ही रत रहते हैं, जिस कारण उन्हें अपने कर्मों का फल भोगने के लिये नाना योनियों में भटकना पड़ता है। इस प्रकार वे जन्म-मरण, जरा, व्याधि आदि के महान कष्टों को भोगते हुए अत्यन्त क्लेशित रहा करते हैं। परमार्थ से भ्रष्ट होने के कारण के कल्याण के भागी नहीं बन पाते। उपनिषदों में प्रेयमार्गी व्यक्तियों की अधोगति का वर्णन करते हुए कहा गया है—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः,
स्वयं धीराः पण्डितं मन्वमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढ़ाः,
अन्धैनैव नीयमानाः यथान्धाः।।

जब अन्धे मनुष्य को मार्ग दिखाने वाला भी अन्धा ही मिल जाता है तो जिस प्रकार वह अपने लक्ष्य पर न पहुँच कर बीच में ही ठोकरें खाता हुआ भटकता रहता है ठीक वही दशा उन ज्ञानाभिमानियों की भी हुआ करती है जो अविद्याग्रस्त होते हुए भी अपने आप को ही बुद्धिमान और विद्वान समझते हुए शास्त्र और महापुरुषों के वचनों की अवहेलना करके भोगों को भोगने में तथा उनके उपायभूत अविद्यामय सकाम कर्मों में ही संलग्न होकर अमूल्य मानव जीवन को व्यर्थ खो देते हैं—

अन्धं तमः प्रविशन्ति-
येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते
य उ विद्यायां रता।।

जो मनुष्य भोगों में आसक्त होकर उनकी प्राप्ति के लिये नाना प्रकार के सकाम कर्मों को करते हैं वे उन कर्मों के फलस्वरूप अज्ञान रूपी अन्धकार से परिपूर्ण विविध योनियों को प्राप्त होते हैं और जो ज्ञान के मिथ्याभिमान में मत होकर निष्क्रिय बने रहते हैं वे उनसे भी अधिक नीचे योनियों में जाते हैं।

इस प्रकार प्रेयमार्ग आत्मा को अधोगति में ले जाने का मार्ग है। आत्मोत्थान का साधन तो श्रेय ही है। गीता के १६ वें अध्याय में दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदा के नाम से श्रेय और प्रेय का सविस्तार वर्णन किया गया है और दैवी सम्पदा को ही श्रेय का साधन बताया गया है।

दैवी सम्पदा क्या है और आसुरी सम्पदा क्या है तथा दैवी सम्पदा श्रेय का साधन किस प्रकार है? इसके सम्बन्ध में भगवान ने अपने मुखारविन्द से कहा है—

दैवी सम्पद्धिमोक्षाय
निबन्धाय आसुरी मता।

अर्थात् दैवी सम्पदा मनुष्य को मोक्ष प्रदान करती है और आसुरी सम्पदा उसे बन्धन में डालती है। दैवी सम्पदा की व्याख्या करते हुए भगवान ने कहा है—

अभयं सत्व संशुद्धि-
र्ज्ञानयोग व्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वा-
ध्यायस्तप आर्जवम्।।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः
शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं
मार्दवं ह्रिचापलम्।।
तेजः क्षमा धृतिः शौच-
मद्रोहो नातिमानता।
भवन्ति सम्पदं दैवी-
मभिजातस्य भारत।।

अर्थात् निर्भयता, अन्तःकरण की शुद्धि, परमात्मा को तत्व से जानने के लिए निरन्तर ध्यानाभ्यास में रत रहना, सात्विक दान, इन्द्रिय निग्रह, भगवत् पूजन, अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मों का आचरण, मन्त्रजप तथा वेदशास्त्रों का पठन-पाठन, तप, वाणी तथा मन की सरलता, मन, वाणी तथा शरीर से किसी भी प्राणी को किसी प्रकार से कष्ट न देना, सत्य और प्रिय बोलना, क्रोध का न होना, त्याग, शान्ति, किसी की निन्दा न करना, प्राणिमात्र में दया, विषय-भोगों में आसक्ति का न होना, हृदय की कोमलता, शास्त्र-विरुद्ध आचरण करने में लज्जा अनुभव करना, चंचलता का अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, किसी से द्रोह न करना, श्रेष्ठता के अभिमान का अभाव ये सब दैवी सम्पदा को प्राप्त हुए पुरुषों के लक्षण हैं। दैवी सम्पदा सम्पन्न व्यक्ति ही परम-कल्याण के भागी बन करते हैं। प्रेय मार्ग के अवलम्बी व्यक्ति आसुरी स्वभाव वाले हुआ करते हैं। उनका आचरण कैसा होता है यह भी सुनो—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जनाः न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।।
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्।।
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टत्मानोऽल्पबुद्धय।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः।।

आसुरी स्वभाव वाले लोग कर्त्तव्य कर्मों में प्रवृत्त होने और निषिद्ध कर्मों से निवृत्त होने का ज्ञान नहीं रखते। अतः उनमें पवित्रता, सदाचार और सत्य भाषण नहीं हुआ करता। वे कहा करते हैं कि यह संसार स्त्री-पुत्र के संयोग से उत्पन्न हुआ है, अतः केवल भोगों के भोगने के लिये ही है। ईश्वर की कोई सत्ता ही नहीं है। उसकी मिथ्या कल्पना की गई है। ऐसी मिथ्या मान्यता से नष्ट हुए स्वभाव वाले मन्द बुद्धि लोग दूसरों का अहित ही किया करते हैं। ऐसे क्रूरकर्मी मनुष्य केवल संसार का नाश करते के लिये ही उत्पन्न हुआ करते हैं। अतः श्रेय मार्गावलम्बियों को आसुरी सम्पदा का त्याग करके श्रेष्ठ व दैवी सम्पदा को ही अपनाना चाहिए।

क्रिया-योग की साधना एवं उसका अमर फल

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योगदर्शन के समाधिपाद में विविध प्रकार की साधनाओं का वर्णन किया है और सब साधनायें समाधि प्राप्ति के स्तम्भ हैं किन्तु कौन किस साधना का अधिकारी है इसका जान लेना भी एक कठिन सी बात है। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में अधिकार-भेद का वर्णन बहुत काफी मात्रा में आता है। वस्तुत: यह ठीक भी है। अधिकार शब्द का अर्थ ही कार्यारम्भ सामर्थ्य है। जो मनुष्य अपनी योग्यता और अधिकार को देखकर कदम बढ़ाता है वह अवश्य ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लिया करता है। समाधि पाद समाप्त होने के बाद भगवान पतञ्जलिदेव ने साधन-पाद के आरम्भ में ही क्रियायोग का वर्णन किया है। वस्तुत: क्रियायोग का वर्णन किया है। वस्तुत: क्रियायोग अधिकारी एवं अनधिकारी का स्वत: ही निर्णय कर देता है। इसीलिये भगवान पतञ्जलिदेव जी ने क्रियायोग का वर्णन विशेष रूप से किया है। यदि किसी व्यक्ति को अनायास ही समाधि रूप उत्तम फल की प्राप्ति हो जाये तो वह उसकी कीमत को नहीं जानता है और कदाचित् उसको प्रयास करना पड़े तो वह जान जायेगा कि यह अनुपम लाभ कितनी मेहनत करने के बाद प्राप्त हुआ है। इसीलिये आवश्यकता है कि मनुष्य समाधिरूप अमर फल को प्राप्त करने के लिये यम-नियमों की साधना पूर्वक क्रियायोग को अपनाये। भगवान श्री पतञ्जलि देव ने अष्टांगयोग में वर्णित नियमों की तीन साधनाओं को क्रियायोग का रूप दिया है वह निम्नांकित है—

तप: स्वाध्यायेश्वरप्रणि-
धानानि क्रियायोग:।

नातपस्विनो योग: सिद्धयति, अनादि कर्मक्लेशवासना चित्ता प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तप: सम्भेद मापद्यत इति तपस उपादानं, तच्च चित्तप्रसादनमबाध-मानमनेनासेव्यमिति मन्यते, स्वाध्याय:=प्रणवादिपवित्राणां जप: मोक्षशास्त्राध्ययनं वा, ईश्वरप्रणिधानं=सर्वक्रियाणां परम-गुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा।

अर्थात् जन्म-जन्मान्तर की कर्म वासना से आई अशुद्धि तप के बिना खण्डित नहीं की जा सकती, इसलिये क्रियायोग की साधना में भगवान पतञ्जलि देव ने सर्वप्रथम तप को ही ग्रहण किया और वह तप भी चित्त के लिये क्लेशकर नहीं होना चाहिये। जैसे आजकल के लोग विविध साधनाओं की पूर्ति के लिए कठिन पञ्चाग्नि तपते हैं या घोर शीतकाल में जल में बैठकर तपश्चर्या करते हैं, यह सभी साधनायें कठिन क्लेशयुक्त हैं। इसलिये तप के उस स्वरूप को अपनाना चाहिये जिसमें मनुष्य किसी प्रकार की दिक्कत को प्राप्त न हो। जो लोग क्लेशसाध्य तप करते हैं उनको भगवान ने आसुरी वृत्ति के लोग कहा है जैसे-

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जना:।
दम्भाहंकार संयुक्ता: कामरागबलान्विता:।।
कर्षयन्त: शरीरस्थं भूतग्राममचेतस:।
मां चैवान्त: शरीरस्थं तान्विद्धयासुरनिश्चयान्।।

अर्थात् काम राग बल का सहारा लेकर दम्भ और अहङ्कार के साथ शरीरस्थ सभी भूत समूह मन और इन्द्रियों को और अन्त: शरीरस्थ मुझको आकर्षित करते हुए जो घोर तप करते हैं वे लोग आसुरी भावना के हैं। वस्तुत: तप का प्रकार क्या है इसका वर्णन भगवान श्रीकृष्ण ने तीन प्रकार से किया है। शारीरिक तप, वाङ्मय तप और मानस तप।

शारीरिक तप—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।

अर्थांत् देव, द्विज, गुरुदेव एवं बुद्धिमान लोगों का पूजन नम्रता, शुद्धि रखना कठिन ब्रह्मचर्य वृत का पालन करना एवं मन, वचन कर्म से किसी को भी दु:ख न देना यह शारीरिक तप कहलाता है। जो परमोत्कृष्ट है।

वाङ्मय तप—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।

अर्थात् मीठा और सत्य दूसरों को हितकारी वचन बोले और स्वाध्याय का अभ्यास करे इसी को वाङ्मय तप कहा गया है। मानस तप गीताकारने इस प्रकार बतलाया है-

मानस तप—

मन: प्रसाद: सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रह:।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपोमानसमुच्यते।।

अर्थात् मन की प्रसन्नतापूर्वक सौम्यभाव से मनोनिग्रह करते हुए अन्त:करण की शुद्धि के लिए जो तप किया जाता है वह ठीक रूप से मानस तप कहलाता है। उसमें भी अहंकार को छोड़कर व फल की इच्छा को छोड़कर जो तप करते हैं वह तप सात्विक कहलाता है। इसके अतिरिक्त सत्कार, मान, पूजार्थ और दम्भ के लिए तप किया जाता है वह

राजस तप कहलाता है। इसके अतिरिक्त मूढ़तापूर्वक कठोर आग्रह पूर्वक शरीर और मन को पीड़ा देते हुए या दूसरों को नष्ट करने के लिए जो तप किया जाता है वह तामस कहलाता है। भगवान ने ऐसे घोर तपों को छोड़ देना ही उचित समझा है। जो मनुष्य यथार्थ में तपस्वी है वह शास्त्रोक्त फल का भागी अवश्य हो जाया करता है। भगवान पतञ्जलि देव तप का फल इस प्रकार लिखते हैं—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।

अर्थात् तप के द्वारा अशुद्धि नाश हो जाने पर योगी को कायिक सिद्धि अणिमा, महिमा गरिमा आदि एवं ऐन्द्रिय सिद्धि दूरदर्शन, दूरश्रवणादि अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं। जिस व्यक्ति को योग के अष्टविधि ऐश्वर्य अणिमादि एवं दूरदर्शन, दूरश्रवणादि ऐन्द्रिय सिद्धियों की प्राप्ति हो जायेगी वह तो कृतकृत्य हो जायेगा। इसलिए क्रियायोग को साधना व सिद्धि के लिए तप बहुत ही आवश्यक है। उसके साथ-साथ क्रियायोग के अन्तर्गत दूसरी साधना स्वाध्याय की है। शास्त्रोक्त विधि से स्वाध्याय के दो भाग माने गये हैं—

प्रणवादि पवित्राणां जपः स्वाध्यायः

मोक्षशास्त्राणां अध्ययनं वा स्वाध्याय।

अर्थात् प्रणव आदि पवित्र नामों का जप करना व मुक्तिदाता शास्त्रों का पाठ करना स्वाध्याय कहलाता है। हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है—

स्वाध्यायाद्योगमासीत् स्वाध्यायाद्योग मामनेत्।

स्वाध्याय योग सम्पत्या परमात्मा प्रकाशते।।

अर्थात् स्वाध्याय के प्रभाव से साधक योग ध्यान को प्राप्त करें और ध्यानस्थ हो जाने के बाद स्वाध्याय का मनन करें। अर्थात् स्वाध्याय के ध्येय अर्थ का चिन्तन करें। स्वाध्याय और योग ध्यान से जो शक्ति-संचय होगी उसके फलस्वरूप परमात्मा का प्रकाश हो जायेगा।

स्वाध्याय के प्रकार—

स्वाध्यायशील व्यक्ति को चाहिये कि प्रथम अपने इष्टदेव के स्तोत्र का जाप करें। और स्तोत्र जाप के पाठ के अनन्तर गुरु-प्रदत्त अपने मन्त्र का वाणी से जाप करें। वाणी से दो या तीन घण्टे का जाप करें। तीन घण्टे वाणी से जाप कर लेने के बाद फिर वह मन्त्र मन में होने लगता है, और तीन घण्टे मानस जप करने के बाद फिर वह मन्त्र बुद्धि में प्रवेश कर जाता है। और मन्त्र के बुद्धि में प्रविष्ट हो जाने के बाद स्वतः ही समाधि का प्रकाश हो जाता है। इसी कारण स्वाध्याय समाधि का प्रकाशक है। योगदर्शन में स्वाध्याय का फल निम्नांकित सूत्र में लिखा है—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।

देव, ऋषयः, सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति, कार्य्ये चास्य वर्चन्त इति।

अर्थात् देवता लोग, ऋषि लोग और सिद्ध लोग स्वाध्यायशील व्यक्ति की आँखों के सामने जाया करते हैं और उसके काम कर दिया करते हैं। ये स्वाध्याय का उत्तम परिणाम है। स्वाध्याय की पराकाष्ठा बढ़ जाने के बाद मनुष्य के मन में अपने आप ही प्रकाश का उदय हो जाता है। और स्वाध्याय के फलस्वरूप ज्योंही समाधि मार्ग में प्रवेश करता है तो—

सर्व द्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।

ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत।।

अर्थात जिस समय मनुष्य के मन में एवं शरीर में, सर्वत्र प्रकाश की प्रकाश की अनुभूति हो उस समय यह समझ लेना चाहिये कि पूर्ण सत्व का उदय हो गया है और सत्वोदय हो जाने के बाद सतोगुण के फलस्वरूप महाभाव का उदय हो जाता है। महाभाव में मनुष्य स्वतः ही अपने इष्टदेव को आत्म-समर्पण कर देता है। गीता में भगवान कृष्ण ने आत्म-समर्पण के भाव को समझाते हुए ये शब्द कहे हैं—

यत्करोसि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासियत्।

यत्तपश्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्वमदर्पणम्।।

अर्थात् हे अर्जुन जो भी कुछ तुम करते हो और जो कुछ तुम खाते हो, जो कुछ तुम हवनादि करते हो और जितनी तुम तपश्चर्या करते हो वह सब कुछ मुझे सौंप दो। भगवान ने ये शब्द अर्जुन को आदेशात्मक कहे हैं किन्तु सच्चा आत्म-समर्पण बिना योग के हो ही नहीं सकता और जो मनुष्य स्वाध्याय के बल से योग को प्राप्त हो जाता है और जब उसके अन्दर पूर्णरूपेण महाभाव का उदय हो जाता है तो उसको स्वाभाविक ही ईश्वर प्रणिधान हो जाया करता है और ईश्वर प्रणिधान हो जाने पर स्वतः ही समाधि सिद्ध हो जाती है पढ़िये भगवान पतञ्जलिदेव के शब्द और उन पर व्यासदेव जी का भाष्य—

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।

ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिः यथा सर्वमीप्सितम-वितथं जानाति, देशान्तरे, देहान्तरे, कालान्तरे च ततोऽस्य प्रज्ञा यथाभूतं प्रजानाति।

अर्थात् ईश्वर आदि महासिद्ध है, यदि कोई व्यक्ति ईश्वर को आत्म-समर्पित करता है तो भक्ति समाधि सिद्ध हो जाती हैं। इसलिये यह बहुत आवश्यक है कि साधक को अपना जीवन उत्कृष्ट बनाने के लिये क्रियायोग का अवलम्बन लेना बहुत ही जरूरी है। इस साधना को करता हुआ साधक यदि अपने युक्ताहारविहार आदि के नियमों को पूर्णरूपेण परिपक्व रखता है तो वह अवश्य ही योग के अन्तिम निष्कर्ष समाधिरूप अमरघर को प्राप्त करता है जिसको प्राप्त करके फिर कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं रहता है।

शास्त्रीय संगीत एवं योग

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

शास्त्रीय संगीत क्रियायोग की साधना का एक अंग है। क्रियायोग का लक्षण करते हुये भगवान पतञ्जलिदेव योगदर्शन के साधनपाद के प्रारम्भ में एक सूत्र लिखते हैं—

तप: स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोग:।

अर्थात् तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान क्रियायोग की साधना के लिए तीन अभिन्न अंग हैं। जो साधक इन तीनों अंगों का आशय लिये बिना किसी भी साधना को आरम्भ करता है उसकी वह साधना अपरिपक्व रहती है। इस सूत्र पर श्री व्यासदेव जी महाराज अपना भाष्य लिखते हैं जिसकी पंक्तियां हर पाठक को अपने मस्तिष्क में धारण कर लेनी चाहिये। उन पंक्तियों को हम हिन्दी भाषा के भाष्य सहित नीचे लिखते हैं, अब पढ़िये व्यास भाष्य की निम्नाँकित पंक्तियाँ—

नातपस्विनो योग: सिद्धयति।

अनादिकर्मक्लेश वासनाचित्रा प्रत्युष स्थितविषय-जालाचाशुद्धिनन्तिरेण तप: सम्भेदमपद्यत इति तपस उपादानं, तच्च चित्तप्रसादनम वाद्यमानमनेनासेव्यमिति मन्यते, स्वा-ध्याय:= प्रणवादिपवित्राणां जप: मोक्षशास्त्रध्ययनं वा, ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फल संन्यासो वा।

अर्थात् अनादिकाल के क्लेश कर्म आदि वासना से घिरा हुआ चित्त और उसकी अशुद्धि बिना आन्तरिक तप के हटाई नहीं जा सकतीं। इस कारण से यहाँ पर तप को ग्रहण किया गया है और वह तप भी इस प्रकार का करना चाहिए जिससे चित्त में काई गहन कष्ट उत्पन्न न हो। भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी श्रीमद्भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय में ऐसे कठोर तप की घोर निन्दा की है और ऐसे व्यक्तियों को असुरव्रत माना है, यथा —

अशास्त्रविहितं घोरं
तप्यन्ते ये तपो जना:।
दम्भाहंकार संयुक्ता:
कामरागबलान्विता:।।
कर्षयन्त: शरीरस्थं
भूतग्राममचेतस:।
मां चैवान्त: शरीरस्थं
तान्विद्धयासुरनिश्चयान्।।

अर्थात् शास्त्र आज्ञा से रहित दम्भ और अहंकारयुक्त काम, क्रोधादि के बल से शरीरस्थ शरीर में स्थित सब इन्द्रिय ग्रामों को तपाते हुए और अन्त:करणवस्थित मुझे भी पीड़ा देते घोर तपश्चर्या करते हैं ऐसे व्यक्ति आसुर्यभाव वाले कहलाते हैं। इसलिए जो लोग अहंकारयुक्त होकर के ऐसे क्लेश-प्रधान घोरतम् तप करते हैं वे सभी अशास्त्र-विहित होने के कारण यथ र्थ तपस्वी नहीं है। भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने शारीरिक, मानसिक एवं वाङ्मय तप का इस प्रकार वर्णन किया है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजन
शौचमार्जवम्।
ब्रह्मवर्यमहिंसा च
शरीरं तप उच्यते।।
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं
प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव
वाङ्मयं तप उच्यते।।
मन:प्रसाद: सौम्यत्वं
मौनमात्मविनिग्रह:।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो
मानसमुच्यते।।

अर्थात् देव, द्विज, गुरुदेव एवं बुद्धिमान विद्वानों का पूजन शुद्धि और नम्रता, ब्रह्मचर्य व्रत और अहिंसा का पालन, शारीरिक तप कहलाता है। एक मनुष्य अपने गुरुजनों के प्रति यदि विनीत रहता है एवं मनसा वाचा कर्मणा किसी को भी दु:ख नहीं देता एवं पूर्णरूपेण इन्द्रियों के वेग को रोककर ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करता है तो यह उसका तप शास्त्रविहित एवं पूर्ण उत्कर्ष को देने वाला है। हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है—

सिद्धेविन्दौ महायत्ने किन्नसिद्यतिभूतले।

अर्थात् जो व्यक्ति कामोद्वेग को सहन करके पूर्णरूपेण वीर्य रक्षा करता है वह ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाला ब्रह्मचारी बहुत बड़ा तपस्वी है न कि जो पञ्चाग्नि तप से शरीर को और इन्द्रियों को दु:ख देते रहते हैं वे लोग। इसके अतिरिक्त जो लोग सत्य बोलते हैं और हर वक्त स्वाध्याय का अभ्यास करते हैं (अर्थात् प्रणवादि का जप एवं उपनिषद्, गीता आदि का जप करते हैं) वे लोग वाङ्मय तपस्वी कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त मन की प्रसन्नतापूर्वक सौम्यता को धारण करते हुए अपनी

इन्द्रियों पर नियन्त्रण करके अपने अन्त:करण को शुद्ध रखते हैं वे सब मानस तपस्वी कहलाते हैं। इस प्रकार से उपरोक्त नियमों को धारण करके एक शास्त्रीय संगीत का वेत्ता व्यक्ति अभ्यास करता हुआ अपनी अन्तर्ध्वनि को शनै: शनै: मूलाधार से उठाकर स्वाधिष्ठान मणिपूर्णक अनाहत्, विशुद्ध एवं आज्ञाचक्र का भेदन करता हुआ ध्वनि के साथ अपने आपको सहस्रार तक ले जाता है, वह शास्त्रीय संगीत का वेत्ता व्यक्ति उसी आन्तरिक नाद ध्वनि के साथ अपने आपको ब्रह्मलीन कर लेता है। आवश्यकता इस बात की है कि साधक इस ध्वनि को अन्तर्लक्ष्य होकर उठाये। एक व्यक्ति अपने शास्त्रीय संगीत के ढंग से अन्तदृष्टि होकर इस ध्वनि को मूलाधार से उठाता है, भले ही वह आलाप अपना आलाप अपने गुरुजनों की बताई विधि के अनुसार स स, प प, म म, नी नी, ही करता हो, किंतु अर्न्तदृष्टि होकर ब्रह्म-नाड़ी के एक तेजोमय मार्ग से उस ध्वनि का मन के साथ आकर्षण करता है तो वह ध्वनि शनै: शनै: मूलाधार आदि कमलों का भेदन करती हुई सहस्रार तक अवश्य पहुँच जायेगी क्योंकि उसका आधार मन है। ध्वनि मन का आधार लेकर उठती है और **'ध्वनेअन्तर्ग्वता: ज्योति:'** ध्वनि के अन्दर परम ज्योति अर्थात् आत्म-प्रकाशलयता का एक ऊँचा साधन है। उपनिषदों का वचन भी है—

प्रणवं प्रजपेद्दीर्घं सर्वविघ्नोपशांतये।

अर्थात् ओऽमकार का लम्बे स्वर का जाप करे जिससे सब प्रकार के विघ्नों की शान्ति अपने आप हो जाया करती हैं। प्रणव-ध्वनि को बाह्य ध्वनि के साथ भृङ्गीनाद के ढ़ंग से यदि एक अभ्यासी साधक शास्त्रीय संगीत का आलाप लिये उठाता है तो यह बिना किसी विशेष तपश्चर्या के पूर्णयोगी बन जाता है। भगवान ने गीता में कहा है—

वेदानांसामवेदोस्मि।

अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन चार वेदों के अन्दर सामवेद की अपना स्वरूप माना है, और शास्त्रीय संगीत का आधार केवल मात्र सामवेद ही है। इसलिए जो लोग शास्त्रीय विधि से शास्त्रीय संगीत का अभ्यास करते हैं वे लोग ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए अवश्य ही अपने परम लक्ष्य को प्राप्त करते हैं। इसलिए हमने अपने प्रभु श्री रामलाल संगीत विद्यालय के अन्दर अपने शास्त्रीय संगीत के विद्वानों से इस विद्या का आरम्भ कराया जिससे कि अभ्यास करने वाले बालक-बालिकायें, अनायास ही योगमार्ग की ओर बढ़ जायें। प्रभु श्री रामलाल संगीत विद्यालय का यही एक आधार रखा है। हमारे इस विद्यालय में लौकिकता को मान्यता नहीं दी गई है केवल मात्र सामवेद के आधार पर विधिपूर्वक संगीत शास्त्र का अभ्यास कराया जाता है जिससे सभी विद्यार्थी योगारूढ़ हो सकें, अत: शास्त्रीय संगीत का अभ्यास अन्तर्ध्वनि में लीनता प्राप्त करने के लिए एवं—

सर्वभूतस्थमात्मानां
सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्ष्यते योग युक्तात्मा
सर्वत्र समदर्शनः।।

की उत्तम स्थिति को प्राप्त करने के लिए शास्त्रीय संगीत एक उत्तम साधन है, इसलिए पाठकों को चाहिये, अपने बालक-बालिकाओं को पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत और युक्ताहार-विहार का अभ्यास बनाकर उत्तम ढ़ंग से शास्त्रीय संगीत का अभ्यास करायें जिससे वे लोग अपने मनुष्य जन्म धारण करने के उत्तम फल को प्राप्त कर सकें एवं योगारूढ़ होकर योगी बन सकें।

निष्काम कर्मयोग की-
साधना का स्तम्भ योग

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

श्रीमद्भगवत गीता के दूसरे अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं कि–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा
फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा
ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।
योगस्थ: कुरु कर्माणि
सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्यो: समोभूत्वा
समत्वं योग उच्यते।।
दूरेण ह्यवरं कर्म
बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ
कृपण: फलहेतव:।।
बुद्धियुक्तो जहातीह
उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व
योग कर्मसु कौशलम्।।
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि
फलं त्यक्त्वा मनीषिण:।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ता:
पदं गच्छन्त्यनामयम्।।

अर्थात् जगदीश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को शुद्ध और सीधे शब्दों में यह उपदेश दिया कि हे अर्जुन कर्म कर लेने में ही तुम्हारा अधिकार है किन्तु फल प्राप्त करने में तुम्हारा कोई अधिकार नहीं। कर्मों का फल या मिलेगा ये ईश्वराधीन चीज है। इसलिये तुम कर्मफलों के पीछे मत पड़े रहो, कर्तव्य बुद्धि से कर्म करो। इसका अर्थ यह भी नहीं समझ लेना कि यदि तुम कर्मफल की कामना नहीं करते हो तो कर्म करना ही छोड़ दो यह भी उचित नहीं है। तुम्हें चाहिये योगस्थ होकर के कर्म करो। कर्मफल में कर्मफल की इच्छा को छोड़कर सिद्धि और असिद्धि में समान भाव रखते हुए कर्तव्य बुद्धि से कर्म करते रहो, यही समत्व भाव है, और सर्वत्र समत्व भाव को ही योग कहते हैं। बुद्धि योग की अपेक्षा कर्मफल की इच्छा रखते हुए कर्म करना बहुत ही छोटी चीज है, क्योंकि फल प्राप्ति की इच्छा से कर्म करने वाले बहुत ही कृपण होते हैं। अत: तुम बुद्धि का आश्रय लेकर निष्काम-भाव से कर्म करो। बुद्धि की शरण में जाने वाला व्यक्ति सुकृति और दुष्कृति रूप दोनों प्रकार के कर्मफलों को छोड़ कर योगयुक्त हो जाता है। कर्मों के उत्तम निष्कर्ष का नाम ही कर्म-कुशलता है। इसलिये तुम उत्तम बुद्धि का आश्रय लेकर योग को प्राप्त करो। क्योंकि बुद्धिमान लोग कर्मफल की इच्छा को छोड़कर जन्म मरण से परे होकर अनामय पद को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार से अलिलेश्वर त्रिजगत पावन भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निष्काम कर्मयोग को करने का आदेश दिया। किन्तु निष्काम कर्मयोग की इतनी ऊँची साधना पर पहुँच जाना हर व्यक्ति के लिये सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि सर्व साधारण रजोगुण एवं तमोगुण प्रधान व्यक्ति कर्मफल की इच्छा रखते हुए कर्म करने में प्रवृत्त होते हैं। यदि मनुष्य के मन में कोई कर्मफल प्राप्त करने की इच्छा ही न हो तो वह कोई कर्म करे ही नहीं अल्हड़ एवं आलसी व्यक्तियों की तरह से खाकर-पीकर एवं सोकर ही जीवन का काल यापन करना ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाकर समय व्यतीत करता चला जाये यह तो और भी बहुत ही बुरी बात है। संसार के आम लोगों में एक लोकोक्ति प्रख्यात है कि– ''खाली मन शैतान का वास'' अर्थात् जो व्यक्ति कुछ भी कर्म न करके पड़ा रहना ही जीवन का लक्ष्य बना चुका है वह बहुत बड़ी भूल में है। क्योंकि—

न हि कश्चित्क्षणमपि
जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवश: कर्म
सर्व: प्रकृतिजैर्गुणै:।।
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य
आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा
मिथ्याचार: स उच्यते।

यरित्वन्द्रियाणि मनसा

नियम्यारभतेऽर्जुन।

कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगम-

सक्तः स विशिष्यते।।

अर्थात् संसार में जन्म लेने वाला कोई भी व्यक्ति कर्म किये बिना नहीं रह सकता। क्योंकि प्राकृत स्वभाव स्वतः ही कर्म करने की प्रेरणा देता रहता है। जो लोग अपने आपको निष्काम कर्मयोगी प्रख्यात करने के लिये कर्मेन्द्रियों पर नियन्त्रण करके मन ही मन इन्द्रियार्थों का चिन्तन करते रहते हैं वे लोग मिथ्याचारी अर्थात् ढ़ोंगी कहलाते हैं। क्योंकि इन्द्रियों का वेग बहुत ही प्रबल है। बड़े-बड़े बुद्धिमान और विद्वानों को भी मसल डालता है इसलिये बलवान इन्द्रियों का समूह जब बड़े-बड़े विद्वान एवं आत्म-संयमी पुरुषों को भी हटात् खेंच लेता है तो ऐसी स्थिति में सर्वं साधारण का तो कहना ही क्या। इसलिये कर्मेन्द्रियों के बाह्य व्यापार को बन्द करके इन्द्रियार्थों का चिन्तन करते रहते हैं वे लोग केवल मात्र दिखावा करने वाले व्यक्ति हैं। यथार्थता उन लोगों के अन्दर नहीं होती। अतः जो लोग अपने आपको उत्थान की ओर ले जाना चाहते हैं उनका कर्म करते रहने पर ही मनुष्य निष्काम कर्मयोगी बन सकता है। क्योंकि भगवान का आदेश है—

न कर्मणमनारम्भान्नैष्कर्म्य पुरुषोऽश्नुते

अर्थात् जो व्यक्ति कर्म-मार्ग में प्रवृत्त नहीं होते वह निष्काम कर्मयोग को प्राप्त हो ही नहीं सकते। इसी बात को लक्ष्य में रखकर भगवान ने अर्जुन को ये आदेश दिया कि—

नियतं कुरु कर्म त्वं

कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।

शरीर यात्रापि च ते

न प्रसिद्धयेदकर्मणः।।

अर्थात् कर्म निश्चित रूप से करते ही रहना चाहिये कर्म करते-करते ही मनुष्य स्वतः ही निष्काम कर्मयोग को प्राप्त हो जाता है। जो लोग कर्म-कलाप को छोड़कर निष्क्रिय होकर बैठ रहते हैं उनका शरीर निर्वाह भी दिक्कत में पड़ जाता है, और जो लोग अपनी नियमावली बनाकर कर्म करते रहते हैं वे लोग शनैः शनैः कर्म बन्धन से अर्थात् कर्मासक्ति से अवश्य ही छूट जाया करते हैं। इस विषय में **'ईश वाष्योपनिषद्'** के दूसरे मन्त्र में वेद भगवान ने भी इसी प्रकार की आज्ञा प्रदान की है—

कुर्वन्येवे कर्माणि

जिजीवशेक्षतग्वंशमा।

एवं त्वैनान्यतेतोस्ति न

कर्म लिप्यते नरे।।

अर्थात् मनुष्य को चाहिये कि वह अपनी सौ वर्ष की जिन्दगी कर्म करते हुए व्यतीत करें। ऐसा करते रहने पर स्वतः ही कर्मासक्ति छूट जायेगी। भगवान पतञ्जलि देव ने अपने योगदर्शन के—

कर्माशुक्ला कृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।

इस सूत्र पर पढ़िये व्यास भाष्य की पंक्तियाँ-

चतुष्पात् खल्वियं कर्मजातिः-कृष्णः; शुल्ककृष्ण, शुल्का अशुल्काकृष्णाचेति, तत्र कृष्णा दुरात्मनां, शुल्ककृष्णा बहिः साधनसाध्या तत्र परपीडाऽनुग्रहद्वारेण कर्माशय प्रचयः, शुल्का तपः स्वाध्याय ध्यानवतां सा हि केवले मनस्यायत्तत्वा- दबहिः साधनाधीना न परान् पीडयित्वा भवति, अशुल्काकृष्णा संन्यासिनां क्षीण-क्लेशानां चरमदेहानामिति, तत्राशुक्लं योगिन एवं फल संन्यासाद् अकृष्णं चानुपादानाद्, इतरेषां तु भूतानां पूर्वमेव विविधामिति।

अर्थात् यह कर्म जाति चार प्रकार की है 'कृष्णा' जो कर्म पाप प्रधान होते हैं ऐसे कर्म दुरात्मा लोग करते हैं और दूसरी प्रकार की 'शुक्ल कर्म' पुण्यात्मा लोगों की हुआ करती है। तीसरी प्रकार के 'शुक्ल-कृष्ण-कर्म' आम सांसारिक लोगों के होते हें जो लोग बाह्य साधनाओं में लगा करते हैं उनसे दोनों ही प्रकार के कर्म बन जाया करते हैं। पाप के भी बन जाते हैं और पुण्य के भी बन जाते हैं, किन्तु **'आशुक्लाकृष्ण'** अर्थात् न पाप के न गुण्य के इस प्रकार के कर्म केवल मात्र योगियों के हुआ करते हैं। इसलिए जो लोग योग का आधार लेकर चलते हैं ठीक प्रकार से वही लोग निष्काम कर्मयोगी हैं। यह एक सिद्धान्त की बात है जो लोग बर्हिमुख जगत में विचरते हैं वह इन्द्रियार्थों का चिन्तन करते रहते हैं वे लोग कर्मासक्ति में फँस ही जाते हैं, क्योंकि हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है—

ध्यायतोविषयान्पुंसः

सङ्गस्तेषुपजायते।

संगात्संजायते कामः

कामात्क्रोधोऽभिजायते।।

क्रोधाद्भवति संमोहः

संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रं शाद्बद्धि नाशो

बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।

अर्थात जो मनुष्य विषयों का चिन्तन करते हैं वे लोग चिन्तन करते-करते ही विषय प्राप्ति के लिए बहुत ही उन्मुख हो जाते हैं और धीरे-धीरे वासना भोग के लिये विषयों की ओर बढ़ते रहते हैं। शनैः शनैः मन में कामना घर कर जाती है और जब उस कामना की पूर्ति नहीं होती तो मनुष्य के मन में प्रबल कामासक्ति से क्रोध पैदा हो जाता है। और क्रोध के पैदा हो जाने पर मन में अधिकाधिक मोह घर कर लेता है। अर्थात् हर समय भ्रान्त चित्त सा रहने लगता है। ऐसी स्थिति आ जाने पर स्मृति जाती रहती है और स्मृति भ्रंश हो जाने पर बुद्धिनाश स्वाभाविक है। इसलिए बाह्य जगत की प्रवृत्ति मनुष्य को नाश की ओर ले जाती है। और जो मनुष्य

प्रवृत्ति मार्ग को छोड़कर अन्तर्जगत की साधना करता है वह शनै: शनै: आत्मोत्थान कर लेता है। यद्यपि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही मार्ग कर्मजाल का विस्तार करने वाले हैं किन्तु फिर भी हमारा शास्त्रीय वचन है कि—

तयोस्तु श्रेयादिदानाय साधु भवति,

ह्यीयते अर्थाद्य उप्रेयो प्रणुते।

इसलिए गुणात्मक होने से प्रवृत्ति और निवृत्ति बन्धन का कारण तो दोनों ही हैं। किन्तु उनमें से जो लोग श्रेयमार्ग का अनुसरण करते हैं वे लोग कल्याण पद को पा जाया करते हैं और जो लोग 'प्रेयमार्ग' अर्थात् प्रवृत्तियों में फँसे रहते हैं वे लोग अपने लक्ष्य से अवश्य ही गिर जाया करते हैं। इन शब्दों से एक ही भाव प्रगट होता है कि मनुष्य को श्रेय-मार्गानुगामी होना चाहिए जिससे वह कर्म करता हुआ भी निष्काम कर्मयोग को प्राप्त हो जाये। बहिर्मुखी प्रवृत्तियों से छुड़ाने वाला साधन एकमात्र अन्तर्मुखता ही है। जो साधक अपने आपको बाह्य-जगत से अन्तर्मुखता की ओर लगा लेते हैं, अर्थात् भीतर के जगत को देखने लगते हैं वे लोग शनै: शनै: वासना जाल से छूट जाते हैं एवं केवल मात्र कर्त्तव्य मात्र से ही कर्म करने वाले हो जाया करते हैं। इसी बात को लक्ष्य में रखकर गीता में भगवान कृष्ण ने अपने मुखारविन्द से स्वयं ये शब्द कहे हैं—

आरुरुक्षोर्मुन्योंगं कर्म कारण मुच्यते।

योगारुढ़स्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।

अर्थात् जो मनुष्य योगारूढ़ होना चाहता है उसके लिए स्वभावत: ही उसका साधनारूप कर्म ही उसके उत्कर्ष का कारण बन जाता है और योगारूढ़ हो जाने पर स्वयं ही कर्म-शान्ति हो जाती है। अर्थात् वह व्यक्ति समाधिस्थ हो जाता है। इसी सिद्धान्त का आधार लेते हुये भगवान ने गीता में यह उपदेश दिया है कि—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं,
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे,
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।
विहाय कामान्यः सर्वान्
पुमांश्चरति निःस्पृह।
निर्ममो निरहंकारः स
शान्तिमधिगच्छति।।
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ
नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि
ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।।

अर्थात् जिस प्रकार से समुद्र के अन्दर नदी नाले सब लीन हो जाया करते हैं उसी प्रकार से सभी कामनायें जिस व्यक्ति के स्वरूप चिन्तन में ही लय हो जाती हैं वही व्यक्ति शांति को प्राप्त करता है अर्थात् कामनाओं के पीछे दौड़ने वाला व्यक्ति शांति को नहीं पा सकता। जो व्यक्ति सब प्रकार की कामनाओं को छोड़कर, और निरअहंकार होकर निस्पृह विचरता है वही व्यक्ति शान्ति को प्राप्त होता है, इसी का नाम ब्राह्मी स्थिति है। स्थिति को प्राप्त कर लेने पर मनुष्य कभी भी मोह को नहीं प्राप्त होता और इस स्थिति में स्थित रहने वाला व्यक्ति अवश्य ही ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करता है। इसलिये कर्मयोग ही नैष्कर्म प्राप्त करने का एक अतुलित साधन है। आवश्यकता केवल मात्र एक बात की है कि मनुष्य अपने आपको बाह्य प्रवृत्तियों से रोककर अन्त: प्रवृत्तियों की ओर बढ़ जाय। यदि अपने अभ्यास के द्वारा मनुस्य अन्तर्जगत में प्रवेश कर जाता है तो वह बाह्य प्रवृत्तियों से छूटकर शाश्वत शान्ति की ओर बढ़ जाता है। मन तो एक ही है उसको चाहे जहां लगा लें।

कबिरा मन तो एक है, चाहे जहाँ लगा।

चाहे हरिका भजन कर, चाहे विषय कमा।।

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में विषय सिद्धि के लिए स्पष्ट शब्दों के अन्दर एक ही निर्देश दिया—

या निशा सर्वभूतानां
तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा
निशा पश्यतो मुनेः।।

अर्थात् संसार वाले जिस रात में जगते रहते हैं मुनि उसमें सोता रहता है और जिसमें संसार वाले सोते हैं उसमें मुनि जागता रहा करता है। संसार वाले प्रवृत्ति मार्ग के अन्दर जगत की चहल-पहल में हर समय लगे रहते हैं और मुनि लोग बाह्य प्रवृत्ति को रोक-करके अन्तर्जगत में विचरण करते हैं तथा अपने अन्तर्जगत के अभ्यास में लगे हुए सब प्रकार की कामनाओं से रहित होकर शाश्वत शान्ति को पा जाया करते हैं। इसलिये जो मनुष्य कर्मरत हो करके अपनी साधना को करता रहता है वह अनायास ही निष्काम कर्मयोग को प्राप्त हो जाया करता है। सम्प्रज्ञात समाधि का अभ्यास करने वाले साधक जिस समय वितर्कानुगत योग को प्राप्त होता है तो वह बाह्य प्रवृत्ति के मोटे रूप को छोड़ देता है और उसे आगे ज्योंही विचारानुगत योग की ओर बढ़ता है तो सूक्ष्म वासनाओं का रूप भी बहुत ही क्षीण हो जाता है। आनन्दानुगत और अस्मितानुगत योग को प्राप्त होकर स्वत: ही निष्काम कर्मयोगी बन जाता है किन्तु पहले-पहले समाधि-योग के अभ्यास के लिए नियम से उठना-बैठना युक्ता हार-विहार से रहना आदि सब कर्म करने ही पड़ते हैं। इसलिये साधक को चाहिए कि यदि वह अपने आपको निष्काम कर्मयोगी बनाना चाहता है तो योग की अन्तरावलोकन विधि से अन्तर्जगत में प्रवेश करें एवं शाश्वत शान्ति को प्राप्त करें। यही नि:श्रेयस् सिद्धि का एक मूल कारण है जिसको पाकर कुछ भी प्राप्तव्य अवशेष नहीं रहता एवं स्वत: ही निष्काम-कर्मयोग सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार निष्काम कर्मयोग सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार निष्काम कर्मयोग की उत्तम साधना का स्तम्भ केवल योग ही है।